

## प्रथम अध्याय

### आदिवासी साहित्य: अवधारणा, स्वरूप एवं परिचय

- i) आदिवासी की अवधारणा
- ii) आदिवासी साहित्य का स्वरूप
- iii) आदिवासी जीवन केन्द्रित हिन्दी उपन्यासों का परिचय

## i) आदिवासी की अवधारणा

पिछले कुछ दशकों से आदिवासी विमर्श पर चर्चा होने के कई कारण हैं। कुछ ऐसे वातावरण निर्मित हुए जिससे फैलाये गए हीन भावनाओं को आदिवासी पहचानने लगे हैं। वे अनुभव करने लगे हैं कि अन्य समाज की तुलना में वे हीन और उपेक्षित समझे जाते हैं। ऐसा नहीं है कि वे उपेक्षित नहीं थे, किन्तु इसके पूर्व उनमें ऐसी भावनाएँ विकसित नहीं हुई थी और न ही विश्व के लोगों का ध्यान इनकी ओर आकृष्ट हुआ था। पूंजीवादी नीति के विस्तारीकरण के फलस्वरूप आदिवासियों के जल, जंगल, जमीन को अधिग्रहीत कर लिया गया। उनके अत्याचार यहाँ तक सीमित नहीं थे, वे अनवरत जारी रहे जिसकी विश्वभर में आलोचना होने लगी और इस तरह लोगों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ। इस संदर्भ में प्रसिद्ध लेखक डॉ. गंगा सहाय मीणा का कथन द्रष्टव्य है - “पूंजीवादी भूख ने तथाकथित मुख्यधारा से कटे आदिवासी समुदायों को निशाना बनाया जिसकी दुनियाभर में प्रतिक्रियाएँ भी हुईं और लोगों का इस ओर ध्यान गया। स्वयं आदिवासी समाज के, या उससे गहरे में जुड़े लोगों ने उनके सवाल को उठाना शुरू किया।”<sup>1</sup> फलस्वरूप आदिवासी साहित्य एक वृहद पटल पर उभरकर सामने आया।

आदिवासी साहित्य पर विचार करने से पूर्व ‘आदिवासी’ पर विचार करना अत्यंत आवश्यक है। आदिवासी शब्द को हिन्दी में जनजाति, अनुसूचित जनजाति, वनवासी, गिरिजन, जंगली, बर्बर, लंगोटिया इत्यादि तथा अंग्रेजी में ट्राइब, प्रिमिटिव, इंडिजेनस, एबोरिजिनल, शेड्यूल्ड ट्राइब आदि नामों से अभिहित किया गया है। वास्तव में आदिवासी शब्द की अवधारणा अत्यंत व्यापक है। ये आदिकाल से हमारे देश के निवासी रहे हैं, और इनका देश के एक विशिष्ट भौगोलिक क्षेत्र से प्राचीन संबंध रहा है। विभिन्न कोशों में आदिवासी शब्द की अवधारणा प्रस्तुत की गई है। मानक हिन्दी शब्दकोश में आदिवासी शब्द का अर्थ “देश के मूल निवासी, आदिनिवासी”<sup>2</sup> के रूप में दिया गया है। राजपाल हिन्दी शब्दकोश में आदिवासी को “आदि-निवासी”<sup>3</sup> के अर्थ में चित्रित किया गया है। तक्षशिला आधुनिक हिन्दी शब्दकोश में आदिवासी शब्द का प्रयोग आदिम जाति तथा आदिम निवासी के रूप में किया गया है जिसका अर्थ

क्रमशः “किसी क्षेत्र में रहने वाली सबसे पुरानी मनुष्य जाति, प्रिमिटिव ट्राइब”<sup>4</sup> तथा “किसी क्षेत्र या देश में सबसे पहले आकर बसने वाली जाति, जनजाति, आदिवासी”<sup>5</sup> दिया गया है।

अंग्रेजी में ‘आदिवासी’ के लिए ट्राइब, इंडिजेनस, एबोरिजिनल, प्रिमिटिव, शेड्यूल्ड ट्राइब आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। ऑक्सफोर्ड अंग्रेजी हिन्दी कोश में ट्राइब का अर्थ - “जनजाति, कबीला (समान भाषा और प्रथाओं वाले लोगों का समूह जिनका कोई व्यक्ति नेता होता है)।”<sup>6</sup> अंग्रेजी हिन्दी कोश में ट्राइब शब्द का अर्थ “जनजाति, आदिम जाति, आदिवासी”<sup>7</sup> के रूप में चित्रित किया गया है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आदिवासी शब्द का अर्थ है देश के मूल निवासी। प्राचीन काल से निवास करने वाला समुदाय आदिवासी समुदाय है जो विशिष्ट भू-भाग में पहले से आकर बसे हुए हैं, जिनकी अपनी समान भाषा, संस्कृति एवं प्रथाएँ हैं। यद्यपि वे अविकसित प्रदेश में रहते आए हैं और विकास होने के पश्चात् उस प्रदेश से विलग हो गए, किन्तु इतिहास साक्षी है कि शताब्दियों से वे ही निवास करते आए हैं, वे ही आदिकाल के आदि मनुष्य हैं।

आदिवासी की अवधारणा को लेकर कई विद्वानों में मतभेद रहे हैं। कुछ विद्वान आदिवासी शब्द के पक्षधर हैं तो कुछ विपक्ष में। कुछ जनजाति, अनुसूचित जनजाति, वनवासी आदि के पक्ष में हैं तो कुछ इनसे विलगाव रखते हैं। अतः विभिन्न विद्वानों द्वारा दिये गए मतों को जानने के पश्चात् ही हम सही मूल्यांकन कर पाएंगे।

आदिवासी के लिए ‘जनजाति’ शब्द का प्रयोग किया गया है जो विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होता है। संविधान में इसे ‘अनुसूचित जनजाति’ के रूप में मान्यता मिली है। जनजाति वह सामाजिक समुदाय है जो राज्य के विकास के पूर्व अस्तित्व में था जो अब भी राज्य के बाहर है। अर्थात् प्राचीन युग से निवास करने वाले लोगों का समूह जनजाति कहलाता है। साधारणतया जनजाति के रूप में एक पिछड़ा, गरीब, विकास से बिल्कुल परे तथा दुर्गम क्षेत्रों में निवास करने वाले समुदाय के रूप में माना जाता रहा है। परंतु यह अवधारणा इससे भी व्यापक है।

इस संदर्भ में हरिश्चंद्र शाक्य का कथन है, “आज जनजाति शब्द का अर्थ प्राचीन युग की राजनीतिक इकाई से परिवर्तित होकर गरीबी व पिछड़ेपन से पीड़ित जनसमूह को अभिलक्षित करता है। शताब्दियों से चले आ रहे सतत शोषण व जुल्म ने उनके धैर्य को पूर्णतः नष्ट कर दिया है। उनके गौरवपूर्ण अतीत को आज की वर्तमान दुखमयी अवस्था से धीरे-धीरे ऊपर उठा रहे हैं।”<sup>8</sup> उल्लेखनीय तथ्य यह है कि जनजाति में ‘जाति’ शब्द एक जाति विशेष का बोध कराता है जिसे कई विद्वानों ने अस्वीकार किया है। डॉ. गंगा सहाय मीणा का कथन है - “ ‘जनजाति’ में लगा हुआ ‘जाति’ जाति व्यवस्था की ओर संकेत करता है, जबकि हम जानते हैं कि आदिवासियों के बीच जाति-व्यवस्था नहीं है। वहाँ अलग-अलग कबीलों के विकसित रूप विभिन्न समुदाय अवश्य हैं लेकिन इनमें जाति-व्यवस्था जैसा स्तरीकरण नहीं है।”<sup>9</sup> आदिवासियों में जातिभेद का कोई स्तर नहीं है। उनके कई समुदाय होते हैं जैसे सन्थाल, भील, मुंडा, हो, खड़िया आदि। इनकी संख्या एवं सामाजिक स्थिति की दृष्टि से विभिन्न समुदायों को जनजाति के अंतर्गत रखा गया है। श्यामाचरण दूबे इसे एक भ्रामक अर्थ के रूप में लेते हैं। उनका कथन है - “जनजाति शब्द कुछ अर्थों में भ्रामक है। इस श्रेणी में आने वाले समुदायों की तुलना उनकी संख्या, अथवा सामाजिक गठन और सांस्कृतिक प्रकार्यों की विशिष्टता अथवा आर्थिक-प्राविधिक विकास के स्तर के आधार पर ही की जा सकती है।”<sup>10</sup> डॉ. रामदयाल मुंडा भी ‘जनजाति’ को जाति व्यवस्था का ही एक अंग मानते हैं। उनका कथन है - “ ‘अनुसूचित-जनजाति’ में यह इशारा साफ है कि यह ‘अनुसूचित’ होना एक अस्थायी स्थिति है और शेष बचे ‘जनजाति’ के रूप में भी आदिवासी, भारतीय जाति व्यवस्था का ही एक अंग है। इस बात की पुष्टि इससे भी होती है कि इसके बावजूद कि वे अपने को जाति/वर्ण व्यवस्था के अंतर्गत नहीं मानते, सरकारी/अर्द्धसरकारी काम के सिलसिले में अपनी पहचान बताने के लिए आदिवासियों को ‘जाति-प्रमाण-पत्र’ प्रस्तुत करना पड़ता है।”<sup>11</sup> जाति व्यवस्था भारतीय जीवन में मूल रूप से विद्यमान रही है और चूँकि आदिवासी समुदाय जातिभेद के प्रभाव से पूर्णतया मुक्त रही है। अतः उसे इस व्यवस्था का अंग बनाकर उनके अस्तित्व पर प्रश्न चिन्ह लगा दिया है। ताराम

सुन्हेर सिंह के कथनानुसार - “मुझे लगता है यह शब्द मूल निवासियों के गौरव, स्वाभिमान, आत्मसम्मान को उँचा नहीं उठा सकता। जिस शब्द में गौरव की अनुभूति न हो, वह शब्द हमारी अस्मिता व स्वाभिमान को कैसे जागा सकता है?”<sup>12</sup>

जनजाति का अंग्रेजी रूपान्तरण ‘ट्राइब’ है। अंग्रेजी में जनजाति के लिए ‘ट्राइब’ तथा जनजातीय के लिए ‘ट्राइबल’ शब्द का प्रयोग किया गया है। ट्राइब शब्द लैटिन भाषा के ‘ट्राइब्स’ से बना है जिसका अर्थ है - समाज के विभिन्न हिस्से या भाग। इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इंडिया में ट्राइब शब्द की अवधारणा इस प्रकार दी गई है - “A tribe, as we find it in India, is a collection of families, or groups of families, bearing a common name which, as a rule, does not denote any specific occupation; generally claiming common descent from a mythical or historical ancestor and occasionally from an animal, but in some parts of the country held together rather by the obligations of blood feud than by the tradition of kinship; usually speaking the same language; and occupying, or claiming to occupy, a definite tract of country.”<sup>13</sup> डॉ. डी. एन. मजूमदार के कथनानुसार - जनजाति परिवारों का संग्रह या समूह होता है जिसका सामान्य नाम, सदस्य होता है, जो एक क्षेत्र विशेष से जुड़ा होता है, समान भाषा का प्रयोग करता है और विवाह, व्यापार या व्यवसाय से संबंधित नियमों का पालन करता है तथा पारस्परिकता एवं दायित्व की सहभागिता की प्रणाली को अच्छी तरह से विकसित किया है। (A tribe is a collection of families or group of families bearing a common name, members of which occupy the same territory, speak the same language and observe certain taboos regarding marriage, profession or occupation and have developed a well assessed system of reciprocity and mutuality of obligation)<sup>14</sup> ट्राइब शब्द उपनिवेशवाद की उपज है जो इन समुदायों को पिछड़ा एवं असभ्य घोषित कर उनकी उपेक्षा करती आई है। डॉ. गंगा सहाय मीणा का कथन द्रष्टव्य

है - “ट्राइब कोई मूल्य-निरपेक्ष शब्द नहीं है, इसके पीछे गहरे सामाजिक-राजनीतिक संदर्भ हैं। प्रिमिटिव बैंड्स या कबीलों का सामूहिक नाम ट्राइब होने के कारण धीरे-धीरे उन कबीलों जैसी उपेक्षित जीवन स्थितियों में रह रहे समुदायों के लिए ‘ट्राइब’ पद का इस्तेमाल किया जाने लगा।”<sup>15</sup> उपनिवेशवादी ताकतों ने इनका घोर शोषण किया जिसके परिणामस्वरूप इनकी स्थितियाँ बदतर होती गईं। ये हीनता के शिकार होने लगे और कालांतर में इन्हें ही ट्राइब कहा जाने लगा।

आदिवासी के लिए वनवासी शब्द का प्रयोग किया गया है। सामान्यतः वनवासी शब्द प्राचीन ग्रन्थों - रामायण, महाभारत आदि में प्रयुक्त हुआ है। ‘वनवासी’ शब्द का अर्थ है वन में रहने वाला या निवास करने वाला। किन्तु यह शब्द आदिवासी की वास्तविक पहचान को अभिव्यक्त नहीं करता, इससे एकांगी दृष्टिकोण ही व्यक्त होता है। इस संदर्भ में योगेश अटल का कथन द्रष्टव्य है - “ ‘वन्य जाति’ या ‘वनवासी’ शब्द इसलिए अनुपयुक्त है क्योंकि सभी आदिवासी वनों में नहीं रहते।”<sup>16</sup> कुछ आदिवासी वनों को छोड़कर अन्य भू-भाग में भी निवास करते हैं। शरणकुमार लिम्बाले भी वनवासी शब्द को अनुपयुक्त मानते हैं। आदिवासी स्वयं को वनवासी कहे जाना स्वीकार नहीं करते हैं क्योंकि वे देश के मूल निवासी हैं और वनवासी कहकर उन्हें बाहरी व्यक्ति का दर्जा दिया जाता है। इस संदर्भ में प्रमोद मीणा का कथन द्रष्टव्य है - “वनवासी कहने से आदिवासियों की मूल पहचान ही समाप्त हो जाती है।”<sup>17</sup> रमणिका गुप्ता ने भी वनवासी शब्द पर अपनी असहमति व्यक्त करते हुए कहा - “ ‘वनवासी’ कहकर ‘आदिवासी’ की पहचान को मिटाने की साजिश चल रही है। वन में तो बहुत लोग रहते हैं। झारखंड में तो वन में सूदखोर भी रहता है, आदिवासी भी रहता है। झारखंड के जंगलों में सूदखोर भी चला जाता है, लठैत भी चला जाता है तो वह वनवासी थोड़े हो गया?”<sup>18</sup> वनों में उनके अलावा अन्य समुदाय भी निवास करते हैं। अतः उन्हें वनवासी कहना तर्कसंगत नहीं है तथा असभ्य और पिछड़ा समझकर उनके अस्तित्व पर प्रश्न चिन्ह लगाती है। डॉ. गंगा सहाय मीणा के शब्दों में - “आदिवासियों को ‘जंगली’ या ‘वनवासी’ दक्षिणपंथी लोग कहते हैं उनको

असभ्य और बर्बर साबित करने के लिए, लगभग उसी अंदाज में जिस अंदाज में उपनिवेशवादी शक्तियाँ 'ट्राइब' या 'सेवेज' कहती हैं, ताकि उनके समाज और संस्कृति को पिछड़ा घोषित कर दक्षिणपंथियों को उन्हें 'सभ्य' बनाने का ठेका मिल जाए।"<sup>19</sup>

उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य में देखें तो भारतीय संदर्भ में 'आदिवासी' शब्द सटीक एवं सर्वमान्य है। सभी लेखक एवं आलोचक आदिवासी शब्द पर अपनी सम्मति व्यक्त करते हैं। इसके पीछे मुख्य कारण उनकी विशिष्ट जीवन पद्धति एवं जीवन दृष्टि है जो मुख्य रूप से कार्य करती है, जिसका संरक्षण इस समुदाय ने बखूबी किया है। डॉ. विनायक तुमराम के कथनानुसार - "वर्तमान स्थिति में 'आदिवासी' शब्द का प्रयोग विशिष्ट पर्यावरण में रहने वाले, विशिष्ट भाषा बोलने वाले, विशिष्ट जीवन पद्धति तथा परम्पराओं से सजे और सदियों से जंगलों-पहाड़ों में जीवनयापन करते हुए अपने धार्मिक और सांस्कृतिक मूल्यों को संभालकर रखने वाले मानव-समूह का परिचय करा देने के लिए किया जाता है और बहुत बड़े पैमाने पर उनके सामाजिक दुख तथा नष्ट हुए संसार पर दुख प्रगट किया जाता है।"<sup>20</sup> जयपाल सिंह मुंडा ने संविधान सभा में 'अनुसूचित जनजाति' के स्थान पर आदिवासी शब्द के प्रयोग की पहल की थी। 'आदिवासी' को राजनीतिक पटल पर लाने का महती कार्य उन्होंने किया। उनका कथन है - "आदिवासी कौन हैं? भारत के मूल निवासी हैं। इस देश में आर्य भाषा बोलने वाले लोगों के आने से पहले आदिवासी यहाँ रह रहे हैं। अब हमारे दिन के लिए एक नया और सुंदर और सटीक नाम स्वीकार किया गया है। अब इन्हें आदिवासी कहा जाता है जो भारत के सबसे प्राचीन वंशज हैं।"<sup>21</sup> शरणकुमार लिम्बाले आदिवासी शब्द को एक प्राकृतिक और स्वाभाविक शब्द मानते हुए कहते हैं - "आदिवासी शब्द में 'जनजाति' शब्द की तुलना में अधिक स्वाभाविकता झलकती है। एक बड़ा सवाल यह है कि हम आदिवासी को 'आदिवासी' क्यों नहीं कहना चाहते हैं? यदि यही उसकी पहचान है तो हम उस पहचान को मिटाना क्यों चाहते हैं? किसी की पहचान का आदर करना ही संस्कृति होती है।"<sup>22</sup> वस्तुतः आदिवासियों ने स्वयं को जनजाति, वनवासी, जंगली इत्यादि नहीं कहा। वे 'आदिवासी' कहा जाना ही स्वीकार करते हैं। यह तो मुख्यधारा के लोग

हैं जो उन्हें विभिन्न नाम दे देते हैं और उन्हें उनकी वास्तविक पहचान से मुक्त कर देते हैं। वे देश के प्रथम निवासी हैं। अतः उनकी उपेक्षा करना सम्पूर्ण मानव जगत के समक्ष प्रश्न खड़ा करता है। वेरियर एलविन का कथन है - “आदिवासी भारतवर्ष की वास्तविक स्वदेशी उपज हैं जिनकी उपस्थिति में प्रत्येक व्यक्ति विदेशी है। ये वे प्राचीन लोग हैं जिनके नैतिक अधिकार और दावे हजारों वर्ष पुराने हैं। उन पर सबसे पहले हमें विचार करना चाहिए।”<sup>23</sup>

आदिवासी शब्द उस समुदाय विशेष का द्योतक है जो सदियों से छला-सताया गया है। उनकी संवेदनाओं की अभिव्यक्ति ‘आदिवासी’ शब्द के माध्यम से ही हो सकती है जो उनके संघर्षों की परम्परा का बोध कराता है। कहने का अभिप्राय यह है कि उक्त अवधारणा उनकी सामूहिकता, पारस्परिकता, प्रथाएँ, संस्कृति - इन सबको व्यक्त करता है तथा उनकी पीड़ा का अनुभव कराते हुए मुक्ति की राह की ओर अग्रसर करता है। इस संदर्भ में डॉ. गंगा सहाय मीणा का कथन सटीक प्रतीत होता है - “भारतीय परिप्रेक्ष्य में ‘आदिवासी’ सर्वाधिक उपयुक्त शब्द है। जैसे अनुसूचित जाति की जगह दलित शब्द गहरे अर्थ रखता है, वैसे ही अनुसूचित जनजाति केवल आरक्षण या नौकरियों में हिस्सेदारी के संदर्भ में प्रासंगिक हो सकता है, आदिवासी एकता और संघर्षों की परम्परा का बोध नहीं करा पाता। ‘आदिवासी’ शब्द उस चेतना का भी प्रतीक है जिसकी मदद से उन्होंने अपने दुःख-दर्दों को समझा है और जो उन्हें मुक्ति की राह में आगे बढ़ा रही है। ‘आदिवासी’ पद में एक आंदोलनधर्मिता है, जो ‘जनजाति’ में नहीं है।”<sup>24</sup>

उपर्युक्त विवेचनों से स्पष्ट हो जाता है कि आदिवासी देश के प्रथम नागरिक हैं और उनको आदिवासी कहना अत्यंत समीचीन ठहरता है। यह उनकी भावनाओं के अनुरूप एवं जीवनदृष्टि को व्यक्त करने वाली अवधारणा है। वनवासी और जनजाति शब्द एक प्रकार से संदेह को जन्म देती है और उनकी पहचान, उनके स्व को उनसे विलग करती है। वहीं ट्राइब शब्द औपनिवेशीकरण के फलस्वरूप अस्तित्व में आया जो उन्हें असभ्य, पिछड़ा सिद्ध करती है जबकि वास्तविकता इनसे कोसों दूर है। वे मुख्यधारा के लोगों से ज्यादा सभ्य और



लोकतांत्रिक हैं। जयपाल सिंह मुंडा ने उन्हें पृथ्वी का सबसे अधिक लोकतांत्रिक समुदाय माना है। उनका कथन है - “एक दूसरे के साथ किए जाने वाले व्यवहार में आदिवासी लोग सबसे लोकतांत्रिक समुदाय हैं। इस संदर्भ में यह जानना अच्छा होगा कि कैसे उन्होंने औपचारिक गाँव पंचायत, मानकी, देश मांझी, परगनैत, महतो और इस तरह की अन्य कई व्यवस्थाओं को विकसित किया तथा अपनी आधुनिक जरूरतों की पूर्ति के लिए हमेशा इन्हें समयानुकूल बनाए रखा।”<sup>25</sup> आदिवासी की अवधारणा किसी प्रकार के संदेह को जन्म नहीं देती है, इससे उनकी भाषा, संस्कृति, पहचान अस्तित्व में आती है। यही शब्द उन्हें एक नया आयाम प्रदान करती है, अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिए उनमें चेतना जाग्रत करती है, संघर्ष करने और परस्पर सहजीवी बनकर रहने की प्रेरणा देती है जिससे उनकी संस्कृति जीवित रहती है। इस संदर्भ में रमणिका गुप्ता का कथन प्रासंगिक है - “आदिवासी यानी मूल निवासी यानी भारत का मूल बाशिंदा यानी इस धरती का पुत्र जो धरती और प्रकृति के विकास के साथ ही पैदा हुआ, पनपा, बढ़ा और जवान हुआ - प्रकृति का सहयात्री और सहजीवी जो सहनशीलता की सीमा तक सहन करता पर अन्याय के विरोध में भी खड़ा हो जाता है।”<sup>26</sup>

## ii) आदिवासी साहित्य का स्वरूप

प्रत्येक भाषा एक यात्रा तय करते हुए आगे बढ़ती है। भाषा में प्रयुक्त शब्दावलियों का अपना इतिहास होता है। भाषा संस्कृति का वहन करती है। आदिवासी संस्कृति अन्य संस्कृतियों से भिन्न है। जब संस्कृति भिन्न होगी तो भाषा भी भिन्न होगी। आदिवासी इतर साहित्य में लोक और शिष्ट दो तरह के साहित्य दृष्टिगोचर होते हैं। लोक साहित्य मूलतः मौखिक साहित्य है तथा शिष्ट साहित्य लिखित साहित्य है। आदिवासी साहित्य का प्रारम्भिक स्वरूप मौखिक ही रहा है। आदिवासियों के पास मौखिक साहित्य का विपुल भंडार है जिसे लोक साहित्य के अंतर्गत शामिल करने का आग्रह किया जा रहा है, किन्तु आदिवासी साहित्यकार अपनी इस समृद्ध धाती को लोक साहित्य के अंतर्गत रखने के पक्षधर नहीं हैं। गैर आदिवासी विश्व एक नियंत्रणकारी प्रभाव के माध्यम से परिचालित होता है और वह है शास्त्र। शास्त्र पर पूर्णतया आस्था रखते हुए उसके सिद्धांतों को व्यवहार में लाया जाता है और जीवन को उसी आधार पर संचालित करता है। जबकि आदिवासी विश्व शास्त्र को पूर्णतया नकारता है। वह किसी शास्त्रीय सिद्धांतों का अनुगामी नहीं होता है, वह केवल वही कार्य करता है जिसमें मानवता की भलाई हो। लोक शब्द शास्त्र के बिल्कुल विपरीत ठहरता है। गैर आदिवासी समाज में पवित्र ग्रंथ होते हैं जिसे शास्त्र कहा जाता है और उसके सिद्धान्त होते हैं जिसे लोग मानते हैं। मौखिक साहित्य को वे लोक साहित्य कहते हैं और इसके अंतर्गत लोककथाएँ, लोकगीत, लोककाव्य आदि होते हैं। आदिवासी समाज में शास्त्र नहीं होता है तो लोक भी नहीं होता है। वस्तुतः लोक और शास्त्र गैर आदिवासी समाज की देन है। आदिवासी समाज में पुरखा साहित्य है जिसकी रचना पुरखों ने की है। विख्यात आदिवासी चिंतक वंदना टेटे ने अपनी पुस्तक 'आदिवासी साहित्य परंपरा और प्रयोजन' में लोक और शास्त्र में अंतर को स्पष्ट किया है। उन्होंने कहा है - " 'लोक' शब्द का सांस्कृतिक दर्शन हमारे विचार से हिंदू धर्म की अवधारणा से जुड़ा है। परलोक, त्रिलोक, नरक लोक, स्वर्ग लोक आदि हिंदू धार्मिक शब्दावलियाँ लोक शब्द की आधारशिला पर ही खड़ी हैं। इसलिए जब आप लोक की बात करते हैं तो प्रकारांतर से आप

हिंदू धार्मिकता के दर्शन को ध्वनित कर रहे होते हैं।...अतः प्रकृति पूजक और बाँगा को मानने वाले आदिवासियों के साहित्य को हिंदू धर्म की शब्दावली 'लोक' में बांध कर संकीर्ण करना धार्मिक असहिष्णुता तो है ही, सांस्कृतिक अतिक्रमण भी है।<sup>27</sup> आदिवासी पुरखा साहित्य और लोक साहित्य में सूक्ष्म, किन्तु व्यापक अंतर है। आदिवासी हिंदू नहीं है तो हिंदू धर्म की आस्थाएँ और शब्दावलियाँ आदिवासी समाज और साहित्य पर लागू नहीं होती है। लेकिन इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि आदिवासी इन सबका विरोधी है। वह सौहार्द्र बनाए रखने में विश्वास रखता है। आगे वे स्पष्टतः कहती हैं कि आदिवासी समाज शास्त्र को नहीं मानता और न ही वह शास्त्र का विरोध करता है, यह तो जीवन को गतिमान बनाने वाले तत्त्वों के साथ अग्रसर होता है। "जीवन और प्रकृति के सभी अवयव मिलकर उसे निर्देशित और संचालित करते हैं। उसके दर्शन का मूलाधार कोई एक तत्त्व नहीं है। न साहित्य, न भाषा, न संगीत, न कला और न ही अकेली प्रकृति। आदिवासी विश्व धार्मिक विश्वासों और आस्थाओं से भी उस तरह से नियंत्रित नहीं होता जैसा कि अन्य गैर-आदिवासी धार्मिक समाज हुआ करते हैं। सार रूप में कहा जाए तो आदिवासी विश्वदृष्टिकोण उस परंपरा का प्रतिनिधि है जो संस्कृति, इतिहास और जातीय बोध के साथ-साथ प्रकृति के गतिशील ऐतिहासिक नियमों-अनुभवों-परिवर्तनों से निर्मित होती है।"<sup>28</sup> यह समुदाय समस्त विश्व के समक्ष एक ऐसे समाज का उदाहरण प्रस्तुत करता है जिसके विस्तारीकरण में किसी एक तत्त्व की भूमिका नहीं है, बल्कि समस्त तत्त्वों की सहभागिता सम्मिलित है। स्वयं साहित्य का भी एकल योगदान नहीं है, बल्कि उन समस्त तत्त्वों के साथ मिलकर सहभागिता की भूमिका निभाते हुए आदिवासी कला विधाओं को समृद्ध किया है। इस तथ्य को बड़े सुंदर ढंग से वंदना टेटे ने प्रस्तुत किया है-"आदिवासी विश्व की कला परंपरा में गाने के लिए नाचना जरूरी है, नाचने के लिए बजाना जरूरी है, बजाने के लिए गाना जरूरी है। और गाना, नाचना, बजाना परिवेश के बगैर संभव नहीं है। परिवेश यानी कि प्रकृति। इन सबके एक सुर और ताल में सज जाने पर ही गीतों की रचना होती है या फिर पुराने गीत में नये बोल स्वतः जुड़ने लगते हैं। इस प्रकार साहित्य यानी कि गीत की रचना इन सभी कला

रूपों के सम्मिलन का अंतिम परिणाम होती है। यहाँ एक कला रूप का दूसरे के साथ अन्योन्याश्रित संबंध है। सहअस्तित्व और सहभागिता के बिना किसी भी एक रूप का उद्घाटन संभव नहीं है। इसी कारण परंपरागत रूप से एकल गायकों, वादकों, नर्तकों और रचनाकारों की कोई विशिष्ट दुनिया आदिवासी समाज में स्थापित नहीं है।”<sup>29</sup>

आदिवासी साहित्य अत्यंत प्राचीन साहित्य है, लगभग पाँच हजार वर्ष पुराना है। इस साहित्य का लिखित रूप उस तरह से विकसित नहीं है जैसा कि अन्य प्रकार का साहित्य विकसित है। लेकिन उल्लेखनीय तथ्य यह है कि वाचिक परंपरा ने इनकी संस्कृति, रीति-रिवाज सबको जीवित रखा है। ये किसी भी देश-प्रदेश में बसे हों, लेकिन इनकी एकता इन्हें तथा इनके समुदाय को जोड़े रखती है। इस संदर्भ में प्रसिद्ध कवयित्री निर्मला पुतुल का कथन द्रष्टव्य है- “आदिवासी साहित्य में भौगोलिक एवं भाषिक आकारों में बंटे होने के बावजूद एकरूपता है। इसी वजह से यह विभिन्न समाजों को जोड़ता है। मूल साहित्य प्रकृति के इर्द-गिर्द घूमता है। इसकी परिधि में जल, जंगल, जमीन, पशु, पक्षी और लोककथाएँ होती हैं। इनके रचना संसार में प्रकृति का बहुत बड़ा अवदान है।”<sup>30</sup> आदिवासी साहित्य स्वयं में एक विशाल समुद्र है जिसकी गहराई को मापा नहीं जा सकता। जितनी इसकी गहराई तक जाएंगे उतनी ही इसकी विशालता को समझ पाएंगे। इस साहित्य में कई तरह के समुदाय और भाषाएँ सम्मिलित हैं। यहाँ तक कि इसमें समग्रता, मनुष्यता, अस्तित्व की रक्षा और मुक्ति की, संघर्षों की बात की गई है जो समृद्ध साहित्य में देखने को मिलता है। पुनः निर्मला पुतुल का कथन द्रष्टव्य है - “शिष्ट साहित्य की बात करें तो यह मानव समाज की समग्रता का विस्तार बोध नहीं करता। वह सिर्फ अपना रोना रोता है, तो ऐसे में लगता है साहित्य में मनुष्यता की बात नहीं कही गयी है। जाहिर है हक और अधिकार की भी बात नहीं कही गयी है। इसके विपरीत आदिवासी साहित्य इतिहास और समाज में अस्तित्व की रक्षा के अलावा यह पूछता है कि साहित्य में उसकी मुक्ति का संघर्ष कहाँ है?”<sup>31</sup> वाचिक साहित्य की समृद्धता पर विचार व्यक्त करते हुए लेखक हरिराम मीणा कहते हैं - “भारतीय साहित्य के संदर्भ में जब आदिवासी साहित्य को देखा जाता

है तो मौखिक साहित्य की लंबी और समृद्ध परंपरा हमारे सामने है जिसमें कहानी-किस्से, गीत, पहलियाँ, कहावतें विभिन्न रस-रंगों में उपलब्ध हैं चाहे उनका भाषिक मुहावरा आंचलिक स्तर पर वैविध्य रखता हो। आदिवासी भाषाओं में लिखा गया साहित्य प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है।<sup>32</sup> आदिवासी साहित्य की खास बात यह है कि इस साहित्य में प्रेम और प्रकृति का विशुद्ध रूप मौखिक साहित्य के अंतर्गत दृष्टिगोचर होता है। प्रेम और प्रकृति मानव जीवन का आधार है। प्राचीन काल से मनुष्य का प्रेम और प्रकृति के साथ अटूट संबंध रहा है जिसके बिना उनका जीवन निराधार है। प्रेम और प्रकृति पर विभिन्न दृष्टिकोणों से तरह-तरह की रचनाएँ लिखी गईं। कहीं कल्पना को आधार बनाया गया तो कहीं विशुद्ध प्रेम और प्रकृति का चित्रण किया गया है। वंदना टेटे ने प्रेम और प्रकृति को आदिवासी जीवन का मुख्य आधार माना है जिस पर कई वर्षों से लगातार लिखा जा रहा है। वर्तमान में जितने भी गीत उपलब्ध हैं उनमें उच्छृंखलता तथा अराजक यौन-प्रेम का कोई स्थान नहीं है। विशिष्ट बात यह है कि इन गीतों में कोई नायक-नायिका नहीं मिलेंगे और न ही उनकी कोई विशिष्ट पहचान दृष्टिगोचर होगी। अंग्रेजी सत्ता की स्थापना के पश्चात् उनकी स्थिति में आमूल परिवर्तन आया और हृदय में क्षोभ, दुःख, पीड़ा, असंतोष घर कर गया जिसकी अभिव्यक्ति साहित्य में हुई। यद्यपि अंग्रेजी राज के पूर्व के गीतों में इस तरह के विषय वर्णित नहीं हैं। उन गीतों में केवल प्रेम और प्रकृति है। इस संदर्भ में वंदना टेटे का कथन सटीक प्रतीत होता है - “आप आदिवासी साहित्य का वाचिक अध्ययन करें, पाएंगे कि एक भी आदिवासी गीत वेदना, असंतोष, विद्रोह का नहीं है। किसी भी पुरखौती गीत अथवा कहानी में किसी का प्रतिकार नहीं है। न ही किसी की कोई अवमानना है। आर्थिक दुःखों का तो जिक्र तक नहीं है। कुछ गीत और कहानियाँ मिलेंगी भी तो अपवाद की तरह। ऐसे अधिकांश गीत और कथाएँ मूलतः औपनिवेशिक गुलामी के बाद के दिनों की हैं। इसे समझने की जरूरत है कि हम आदिवासी साहित्य की मूल प्रवृत्ति हजारों वर्षों की परंपरा को मानेंगे या फिर दो-तीन सौ सालों की नवीनतम रचनाओं को।”<sup>33</sup>

सामान्यतः आदिवासी जीवन में धर्म, लिंग, जाति भेद जैसे विभाजन का कोई स्थान नहीं है, सामूहिकता, समानता और सहभागिता का दर्शन इनके समाज का आधार है। साहित्य के क्षेत्र में भी लोक और शिष्ट जैसे विभेदीकरण की अपेक्षा नहीं रखी गई है। अतः आदिवासी साहित्यकारों ने आदिवासी साहित्य को लोक साहित्य न मानकर 'ऑरेचर' माना है। ऑरेचर यानी ऑरल+लिटरेचर जिसे हिन्दी में पुरखौती साहित्य कहा जाता है। पुरखों का स्मरण करना आदिवासी संस्कृति का एक हिस्सा है। वे अपने पुरखों के योगदान को कभी नहीं भूलते हैं, सदैव उनका स्मरण करते हैं। इसलिए पुरखों द्वारा रचित गीतों, कथाओं को वे अपने जीवन में व्यवहार में लाते हैं। अतः पुरखौती साहित्य को संग्रहीत और संरक्षित करना अत्यंत आवश्यक है क्योंकि जीवनानुभव का संचित ज्ञान पुरखौती साहित्य से प्राप्त होता है जो मनुष्यता की सही समझ विकसित करता है। इस संदर्भ में वंदना टेटे का कथन द्रष्टव्य है - "जन कंठों और मौखिक परम्पराओं में सुरक्षित आदिवासी पुरखौती साहित्य हमें न सिर्फ समाज और मनुष्य के सामाजिक होने की यात्रा पर ले जाता है, बल्कि यह दुनिया को बचाये रखने तथा इंसान को इंसान बने रहने की सामूहिक समझ और विश्वदृष्टि भी प्रदान करता है।"<sup>34</sup> उदाहरण स्वरूप संताली भाषा साहित्य को देखें तो यह साहित्य पुरखौती गीतों और कथाओं से समृद्ध रहा है। डब्ल्यू. सी. आर्चर ने तीन हजार संताली पुरखौती गीतों का संग्रह प्रकाशित किया जिसमें संताली साहित्य को विकसित करने वाले विभिन्न कवियों और लेखकों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। ठीक इसी प्रकार मुंडारी भाषा साहित्य, खड़िया भाषा साहित्य, कुडुख भाषा साहित्य, हो भाषा साहित्य के उत्थान एवं विकास में अन्यतम कार्य किया जा रहा है।

वर्तमान दौर आदिवासी साहित्य की अवधारणा के निर्माण का दौर है। यद्यपि यह पूर्णतः विकसित नहीं हुआ है, किन्तु हिन्दी में आदिवासी साहित्य की अवधारणा निर्मित हो रही है। आलोचकों एवं समीक्षकों ने अपनी-अपनी दृष्टि से आदिवासी साहित्य पर गहन चिंतन-मनन किया है तथा चिंतन की यह प्रक्रिया जारी है। विभिन्न द्वन्द्वों के बीच आदिवासी साहित्य की नई अवधारणा विकसित हो रही है। आदिवासी साहित्य की मुख्य चिंता आदिवासियों

के जल, जंगल, जमीन, भाषा और संस्कृति की रक्षा से संबंधित है। वास्तव में यह उनके अस्तित्व का प्रश्न भी है। प्रसिद्ध आलोचक डॉ. गंगा सहाय मीणा के शब्दों में - “आदिवासी साहित्य अस्मिता की खोज, दिक्कुओं द्वारा किए गए और किए जा रहे शोषण के विभिन्न रूपों के उद्घाटन तथा आदिवासी अस्मिता व अस्तित्व के संकटों और उसके खिलाफ हो रहे प्रतिरोध का साहित्य है।”<sup>35</sup> प्रकृति के साथ उनका सदियों पुराना और गहरा नाता रहा है। वे प्रकृति के आश्रय में रहते हैं और उसके साथ साहचर्य का संबंध स्थापित करते हुए उसकी रक्षा करते हैं। प्राकृतिक संपदाओं का कभी निजीकरण नहीं किया क्योंकि उनका मानना है कि इन संपदाओं पर धरती के समस्त प्राणी-जगत का अधिकार है। लेकिन मनुष्य की अत्यधिक लालसा ने प्रकृति को संकट के कटघरे में लाकर रख दिया है। वस्तुतः यह संकट केवल आदिवासी अस्तित्व का नहीं, बल्कि सम्पूर्ण प्राणी-जगत के अस्तित्व का संकट है। जो आदिवासी साहित्य के केंद्र में है। इस संदर्भ में रमणिका गुप्ता का कथन द्रष्टव्य है - “आदिवासी साहित्य जीवन का साहित्य है। वह प्रकृति का सहयोगी-सह-अस्तित्व का अभ्यस्त, ऊंच-नीच, भेद-भाव व छल-कपट से दूर है। वह जमाखोरी या संपत्ति जुटाने की भावना से मुक्त है। वह अन्याय का विरोधी और सामाजिक न्याय का पक्षधर है। उसके साहित्य में इन्हीं सब की अभिव्यक्ति है। जीवन की समस्याएँ और प्रकृति से लगाव उसके साहित्य का आधार है।”<sup>36</sup> आदिवासियों के जीवन की कई समस्याएँ हैं - वन पर प्रतिबंध, बाहरी और आंतरिक शोषण, भूमि अधिग्रहण तथा विस्थापन की समस्या इत्यादि। इन समस्याओं ने उनके अस्तित्व और संस्कृति को गहरा आघात पहुंचाया है जिसका प्रतिरोध आदिवासी समुदाय ने किया। इस प्रतिरोध के परिणाम स्वरूप आदिवासी साहित्य उभरकर सामने आया। डॉ. गंगा सहाय मीणा ने आदिवासी साहित्य के उद्भव के कारण की चर्चा करते हुए कहते हैं - “अन्यत्र बसे आदिवासियों की स्थिति बिना जड़ के पेड़ जैसी हो गई है। नदियों, पहाड़ों, जंगलों, आदिवासी पड़ोस के बिना उनकी भाषा और संस्कृति, तथा उससे निर्मित होने वाली पहचान ही कहीं खोती जा रही है। आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व का इतना गहरा संकट इससे पहले नहीं पैदा हुआ। जब सवाल अस्तित्व का हो तो

उसका प्रतिरोध भी स्वाभाविक है। सामाजिक व राजनीतिक प्रतिरोध के अलावा कला और साहित्य द्वारा भी इसका प्रतिरोध किया गया और उसी से समकालीन आदिवासी साहित्य अस्तित्व में आया।<sup>37</sup>

सदियों से चली आ रही क्रूर व्यवस्था ने उन सामान्य जन को उनके अधिकारों से वंचित रखा, उन्हें प्रताड़ित किया। जिनका जीवन प्रकृति के संरक्षण में ही व्यतीत हुआ और उन्हें उसी वातावरण से सदैव के लिए अलग कर दिया गया। ऐसे में उनकी संस्कृति को जीवित रखने, उनके प्राचीन इतिहास की खोज करने, उनके संघर्ष और अनुभव को शब्दबद्ध करने वाला साहित्य आदिवासी साहित्य है। किसी भी साहित्यिक आंदोलन के उद्भव और विकास में परिस्थितियों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। आदिवासी साहित्य के उद्भव और विकास में भी यही बात लागू होती है। डॉ. गंगा सहाय मीणा ने समकालीन आदिवासी साहित्य की शुरुआत 1991 के पश्चात् से मानी है जब भारत सरकार की आर्थिक उदारीकरण की नीतियों में तेजी आई। इस संदर्भ में उन्होंने कहा है -“भारत सरकार की नई आर्थिक नीतियों ने आदिवासी शोषण-उत्पीड़न की प्रक्रिया तेज की, इसलिए उनका प्रतिरोध भी मुखर हुआ। शोषण और उसके प्रतिरोध का स्वरूप राष्ट्रीय था, इसलिए प्रतिरोध से निकली रचनात्मक ऊर्जा का स्वरूप भी राष्ट्रीय था। निष्कर्षतः 1991 के बाद आर्थिक उदारीकरण की नीतियों से तेज हुई आदिवासी शोषण की प्रक्रिया के प्रतिरोधस्वरूप आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व की रक्षा के लिए राष्ट्रीय स्तर पर पैदा हुई रचनात्मक ऊर्जा आदिवासी साहित्य है।”<sup>38</sup> उल्लेखनीय तथ्य यह है कि आदिवासी अपने अधिकारों के प्रति सचेत हुए हैं और उन अधिकारों को प्राप्त करने के लिए संघर्षरत हैं जिसकी अभिव्यक्ति आदिवासी साहित्य में हुई है। इस संदर्भ में वंदना टेटे का कथन द्रष्टव्य है - “आदिवासी साहित्य अपनी सामुदायिक अस्मिता, पहचान और संस्कृति के लिए सजग तो है ही, परंपरागत अधिकारों के प्राप्ति के लिए चलाए जा रहे संघर्ष की भी पुरजोर अभिव्यक्ति है।...सदियों से उपेक्षित, वंचित और प्रताड़ना झेल रहे आदिवासी समाज और साहित्य को अब और ज्यादा दिनों तक हाशिए पर नहीं रखा जा सकता। वे आ रहे हैं और



रच रहे हैं मानवीय गरिमा से युक्त एक ऐसी नई दुनिया, जिसकी आकांक्षा पूरी दुनिया करती रही है।”<sup>39</sup> आदिवासी साहित्य में एक ऐसे समाज के दर्शन होते हैं जो स्वहित में विश्वास न कर परहित में विश्वास करता है और समानता, स्वतन्त्रता तथा बंधुता का संदेश देता है। आदिवासी जीवन का मूलाधार सामूहिकता और सहभागिता में निहित है जहाँ केंद्र में व्यष्टि न होकर समष्टि है। अर्थात् आदिवासी साहित्य किसी व्यक्ति की सत्ता को खारिज करता है तथा समस्त जीव-जगत के अस्तित्व की पैरवी करता है। आदिवासी प्रकृति के सान्निध्य में रहने के आदी हैं जहाँ किसी प्रकार का कोई बंधन नहीं है, सभी अपने अनुसार जीवन जीने के लिए स्वतंत्र हैं। इस जीवन दर्शन को लेकर चलने वाला साहित्य आदिवासी साहित्य है। हरिराम मीणा के शब्दों में - “महत्त्वपूर्ण बात ये है कि आदिवासी जीवन को पहचानना जरूरी है, जैसे आदिवासी जीवन में महत्त्वपूर्ण हैं, प्रकृति के सान्निध्य में रहना, मानवेतर प्राणी जगत के साथ सह-अस्तित्व, अपने आप में खुलापन, लेकिन बाहर के समाज से संकोच, सामूहिकता, निजी संपत्ति की अवधारणा का उस रूप में विकसित न होना जिस रूप में मुख्यधारा के समाज में है और वैक्तिकता भी वहाँ नहीं है, तो इन चीजों के आधिकारिक अनुभव के साथ जो साहित्य लिखा जा रहा है, उसे हम आदिवासी साहित्य कहेंगे, जो आधिकारिक अनुभव पर आधारित नहीं है, जो विशुद्ध रूप से काल्पनिक है, या जिसे केवल रोमांटिक नजरिये से देखा गया है या आदिवासी को जंगली बर्बर के रूप में पहचान कर लिखा गया है, वह आदिवासी साहित्य नहीं होगा।”<sup>40</sup>

आदिवासी समुदाय की अपनी समृद्ध परंपरा रही है, अपनी जीवन-शैली है जहाँ वे साथ मिलकर रहते हैं। उन्होंने प्रकृति की समस्त चुनौतियों को स्वीकार किया और जीवन जीने के तौर-तरीकों को विकसित किया। कष्टों में रहकर भी उनमें जिजीविषा समाप्त नहीं होती है। आदिवासी संस्कृति में वाह्य विकृतियाँ शामिल हो गई हैं जिससे उनके महान जीवन मूल्य लुप्त होते जा रहे हैं। अतः आदिवासी संस्कृति को जीवित रखना आदिवासी साहित्य का मुख्य ध्येय है। संस्कृति के साथ भाषा का प्रश्न प्रत्यक्षतः जुड़ा हुआ है। भाषा के माध्यम से संस्कृति

का विस्तार होता है। भाषा के माध्यम से संस्कृति को संरक्षित किया जा सकता है और इसके साथ ही सामुदायिक पहचान को स्थापित करने में मदद मिलती है। अतः भाषा और संस्कृति आदिवासी साहित्य के चिंतन के मुख्य आयाम हैं। डॉ. गंगा सहाय मीणा के शब्दों में - “आदिवासियों को न हिन्दी से लगाव है और न ही अंग्रेजी से। अपनी मातृभाषाओं को बचाए रखते हुए वे शेष भाषाओं से अपना व्यवहार तय करते हैं। आदिवासी लेखन में आदिवासी भाषाओं को बचाने की चिंता देखी जा सकती है।”<sup>41</sup>

उपरोक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि जिस साहित्य में आदिवासी दर्शन के तत्व निहित हो, वही आदिवासी साहित्य है। राँची में सम्पन्न हुए दो दिवसीय राष्ट्रीय सेमिनार (14-15 जून, 2014) में आदिवासी साहित्य की घोषणा की गई। इस सेमिनार में देश के कई राज्यों से आए आदिवासी लेखकों ने मिलकर आदिवासी साहित्य के संबंध में यह तय किया कि “जिस साहित्य में प्रकृति की लय-ताल और संगीत का अनुसरण हो, सम्पूर्ण जीव जगत के प्रति कृतज्ञता हो, जो धनलोलुप और बाजारवादी हिंसा और लालसा का नकार करे, जहाँ सहानुभूति, स्वानुभूति की बजाए सामूहिक अनुभूति का प्रबल स्वर-संगीत हो और जो मूल आदिवासी भाषाओं में रचा गया हो वही आदिवासी साहित्य है।”<sup>42</sup> आदिवासी समाज समानता और सामूहिकता पर आधारित समाज रहा है तथा प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित करते हुए सहअस्तित्व की पैरवी करता है। संसार के प्रत्येक प्राणी का एक-दूसरे के साथ गहरा रिश्ता होता है। समाज के निर्माण में प्रत्येक प्राणी के योगदान को विस्मृत नहीं किया जाता है, बल्कि उन्हें भी समूह का हिस्सा माना जाता है। सहअस्तित्व की इस दुनिया के लिए प्रतिबद्ध है आदिवासी साहित्य। श्रम, गीत-संगीत की दुनिया से आदिवासी लेखन प्रस्फुटित होता है।

### iii) आदिवासी जीवन केन्द्रित हिन्दी उपन्यासों का परिचय

जैसे-जैसे युग परिवर्तित हो रहा है लेखन का विषय भी बदल रहा है, बदलते समाज और परिस्थिति में रचनाओं को उसी के अनुरूप ढालने की शक्ति देता है। यही कारण है कि लेखक की रचना समयानुसार प्रौढ़ से प्रौढ़तर बनती जाती है। आदिवासी साहित्य के स्वरूप को विस्तार से जानने तथा समझने के पश्चात् परंपरा पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। आदिवासी लेखकों के साथ-साथ गैर आदिवासी लेखकों ने विपुल मात्रा में आदिवासी साहित्य का सृजन किया है। आदिवासी लेखकों द्वारा लिखा गया साहित्य आदिवासी साहित्य तो है ही, लेकिन गैर आदिवासी लेखकों के योगदानों को अनदेखा करना एकांगी दृष्टिकोण को दर्शाता है। एक संतुलित अवधारणा की आवश्यकता होती है जिसके तहत आदिवासियत अर्थात् आदिवासी दर्शन के तत्त्वों के आधार पर लिखा गया साहित्य ही आदिवासी साहित्य है। आदिवासी जीवन केन्द्रित हिन्दी उपन्यासों की एक स्वस्थ परंपरा रही है, किन्तु अस्सी के दशक में बुद्धिजीवियों का ध्यान आकृष्ट हुआ तथा नब्बे के दशक में भूमंडलीकरण के आने के पश्चात् इसने तीव्र गति प्राप्त की। जल, जंगल, जमीन, प्रकृति एवं संस्कृति की चिंता आदिवासी जीवन केन्द्रित हिन्दी उपन्यासों का केन्द्रीय विषय है तो साहित्य इन सबकी अभिव्यक्ति है।

आदिवासी उपन्यासों का प्रारम्भिक स्वरूप बीसवीं शती के आरंभ से ही देखने को मिलता है। मेन्स ओडेअ को भारत का प्रथम आदिवासी उपन्यासकार माना गया है जिन्होंने प्राचीन मुंडारी भाषा में 'मतुराअ कहनि' नामक उपन्यास की रचना की थी। 1920 के आस-पास लिखा गया यह उपन्यास 1700 पृष्ठों का एक वृहद उपन्यास माना जाता है जो पाँच भागों में बंटा हुआ है। यह दुर्भाग्य का विषय है कि 1920 के आस-पास लिखे जाने के बावजूद इसका प्रकाशन 1984 ई. में हुआ। मेन्स ओडेअ फादर हाफमैन (इनसाइक्लोपीडिया ऑफ मुंडारिका के संकलनकर्ता) के स्टेनो थे। इनसाइक्लोपीडिया का टंकण करते समय उन्हें अनुभव हुआ कि मुंडा समाज और संस्कृति से सामान्य जन को परिचित कराने के लिए एक महत्वपूर्ण रचना का सृजन आवश्यक है। इसी का परिणाम है 'मतुराअ कहनि'। यद्यपि पाँच भागों में से दो

भागों का हिन्दी अनुवाद उपलब्ध हो चुका है जबकि अन्य तीन भागों का हिन्दी अनुवाद नहीं किया गया है।

आदिवासी जीवन केन्द्रित हिन्दी उपन्यासों की परंपरा पर कई विद्वानों ने प्रकाश डाला है, किन्तु उन पर पुनः विचार करने की आवश्यकता है। 1899 में प्रकाशित 'बसंत मालती' उपन्यास की रचना जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी ने की थी। इस उपन्यास में बसंत और मालती के प्रेम, संघर्ष, पीड़ा का चित्रण किया गया है। मालती गोपालपुर के महाराज रणधीर सिंह की इकलौती संतान थी और बसंत कुमार मदनपुर के राजा मदनकुमार सिंह का पुत्र था। मालती के पिता को अपनी पुत्री का विवाह बसंत कुमार से स्वीकार नहीं था, किन्तु मालती ने मन ही मन बसंत को ही अपना पति मान लिया था। अतः अपने पतिव्रत धर्म को बचाने के लिए उसने माता-पिता का घर छोड़ दिया। दूसरी ओर बसंत भी मालती से मिलने के लिए निकल पड़ा। दोनों के मिलन में कई बाधाएँ उत्पन्न हुईं। जैसे मालती का किउली नदी में डूब जाना, जालिम सिंह द्वारा अपहृत हो जाना आदि। किन्तु वे समस्त बाधाओं को पार करते हुए अंत में मिल जाते हैं एवं आनंदपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं। वस्तुतः यह उपन्यास एक प्रेम कथा से अधिक और कुछ नहीं है। इस उपन्यास को आदिवासी जीवन केन्द्रित हिन्दी उपन्यासों की परंपरा में रखने की चेष्टा की गई है और इसे प्रारम्भिक आदिवासी जीवन केन्द्रित हिन्दी उपन्यास माना गया है। प्रो. बी. के. कलासवा तथा अन्य विद्वानों ने इसे पहला आदिवासी जीवन केन्द्रित हिन्दी उपन्यास माना है - "ऐसे आदिवासी जीवन संबंधी उपन्यास लिखने वालों में सबसे पहला नाम जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी का लिया जाता है, जिन्होंने सन् 1899 में 'बसंत मालती' उपन्यास लिखा जो मुंगेर जिले के मलयपुर अंचल के मल्लाह आदिवासी जीवन पर आधारित है।"<sup>43</sup> डॉ. प्रमोद चौधरी ने इसे प्रथम उपन्यास मानते हुए कहा है - "आदिवासी जीवन केन्द्रित उपन्यासों का उद्भव और विकास जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी के सन् 1899 में प्रकाशित 'बसंत मालती' उपन्यास से माना जा सकता है। इसमें मुंगेर जिले के मलयपुर क्षेत्र के आदिवासी मल्लाहों के जीवन का चित्रण किया है। मल्लाह जाति के वर्तमान युग में आदिवासी के अंतर्गत

ग्रहण किया जाता है।<sup>44</sup> कोई भी पहली रचना उस परंपरा का संवाहक होती है और उस परंपरा को आगे बढ़ाने एवं मार्गदर्शक का कार्य करती है। बसंत मालती का अध्ययन करने पर यह प्रतीत होता है कि यह अपने पूर्ववर्ती रचना का अनुसरण मात्र है जिसमें प्रेमकथा को चित्रित करना मुख्य उद्देश्य प्रतीत होता है, आदिवासी जीवन पूरे उपन्यास में कहीं भी परिलक्षित नहीं होता है। आदिवासी संस्कृति, जीवन शैली का चित्रण पूरे उपन्यास में नदारद है। अतः यह उपन्यास आदिवासी उपन्यासों की परंपरा के प्रश्न के दायरे में खड़ा है।

### चलती पिटारी

पं. रामदीन पांडेय द्वारा रचित 'चलती पिटारी' का प्रकाशन 1944 में हुआ था। इस उपन्यास में नदपुरा गांव का रहनेवाला चमरु धीवर की कथा वर्णित है। चमरु एक मछुआरा है और मछली मारकर जीविका चलाता है। उपन्यास में विशालकाय लठधर नामक पात्र है जिसका चोरी, डकैती, हत्या करना मुख्य पेशा है। उसके साथ उसके बेटे, भाई-भतीजा, भांजा भी शामिल हैं। इन लोगों ने मिलकर नरेन्द्र की हत्या कर डाली तथा जेल की सजा मिली। जेल में रहकर उसका हृदय परिवर्तन हुआ और समस्त दुर्भावनाओं से दूर अपने जीवन को प्यार करने लगा। अंत में देश के लिए उसने अपने प्राणों की आहुति दे दी। इधर चमरु की स्थिति में सुधार हुआ और समाज में ख्याति प्राप्त धीवर के रूप में जीवन व्यतीत करने लगा। उसके और उसके परिवार ने नदपुरा गांव के सुधार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उपन्यास के अंत में लेखक का सुधारात्मक दृष्टिकोण द्रष्टव्य है - "नदपुरा-ग्राम-सुधार ने जो अभी तक किया है, वह एकांगी समुन्नति है। नदपुरा अखिल भारत का एक क्षुद्रातिक्षुद्र अंश है। नदपुरा का प्रयास तभी सफल समझा जायेगा, जब भारत के सभी गाँव समुन्नत होंगे।"<sup>45</sup> साथ ही रमा नामक पात्र द्वारा वैश्याओं की स्थिति में सुधार लाने की चेष्टा की गई है। प्रस्तुत उपन्यास एक क्रांतिकारी एवं सामाजिक उपन्यास है जिसमें सामाजिक सुधार पर विशेष बल दिया गया है। इस उपन्यास में आदिवासी जीवन कहीं भी उभरकर नहीं आ सका है।

## रथ के पहिए

देवेन्द्र सत्यार्थी कृत 'रथ की पहिए' उपन्यास का प्रकाशन 1950 में हुआ था। इस उपन्यास में करंजिया समुदाय के रहन-सहन का वर्णन किया गया है। उपन्यास का प्रमुख पात्र आनंद है जिसने एंथ्रोपलोजी में एम.ए. किया है। वह और कुलदीप दोनों मिलकर मोहनजोदड़ो घूमने जाते हैं। कुलदीप गोंड समुदाय से परिचित है और आनंद को भी गोंड समुदाय के बारे में बताता है। आनंद प्रेरित होकर निश्चय करता है कि वह उनके बीच रहकर वास्तविक अनुभव प्राप्त करे, उनकी जीवन-शैली और संस्कृति के बारे में जाने। उसमें एक जीवित संस्कृति को जानने की ललक मोहनजोदड़ो की संस्कृति को जानने से कहीं ज्यादा थी। ऐसी सभ्यता के बारे में जानने के लिए लोग उत्सुक हैं जो जमीन के भीतर दफन है, किन्तु जो सभ्यता इस धरती पर अस्तित्व में है इसके बारे में किसी को कोई चिंता नहीं है। आनंद और सोम जंगल की ओर रवाना होते हैं। आनंद ने करंजिया लोगों का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया कि वे लोग प्रगति करें। वे अपने रीति-रिवाज को जारी रखने के लिए स्वतंत्र हैं। संसार की प्रगति में वे भी साथ निभाए, कदम से कदम मिलाकर चले - इसका आह्वान आनंद करता है। इसके लिए सबसे पहला माध्यम है स्कूल। आनंद के प्रयत्न से 'कला भारती' की स्थापना हुई और करंजिया समुदाय के चालीस लड़के और बारह लड़कियाँ इस विद्यालय में भर्ती हुए। इस प्रकार आनंद करंजिया समुदाय के कल्याण के लिए कार्य करता है और इसी कल्याण की भावना से प्रेरित होकर असम की ओर प्रस्थान करता है। इस उपन्यास में करंजिया आदिवासी समुदाय का जीवन उभरकर सामने आया है। रचनाकार नायक (आनंद) को किसी और समाज से लाकर आदिवासियों के हित और कल्याण का जिम्मा सौंपते हैं। अतः इस उपन्यास में आदिवासियों के प्रति रचनाकार सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है।

## मौन घाटी

पीटर पॉल एक्का द्वारा रचित उपन्यासों में से एक है 'मौन घाटी' उपन्यास। किशोर और रजनी कॉलेज की छुट्टियों में अपने गाँव कुसुमपुर आए हैं। कुसुमपुर पहले से बिल्कुल

बदल गया है। यहाँ शहरी वातावरण प्रवेश कर रहा है और गाँव को शहर बनाने की कोशिश की जा रही है। आदिवासी इलाकों में बाहरी संस्कृति का हस्तक्षेप बढ़ता जा रहा है और वे लोग अपनी सत्ता कायम करने में लगे हुए हैं। हँडिया पीना आदिवासी संस्कृति का एक अंग है। किसी न किसी अवसर पर हँडिया पिया जाता है, लेकिन शहरी लोगों ने इसे व्यापार (नशीले द्रव्य) के रूप में इस्तेमाल किया ताकि वे इसी में मदमस्त होकर आपसी सौहार्द्र और सामूहिकता को त्याग कर आपस में लड़ते-झगड़ते रहें और व्यापारी, महाजन वर्ग इनमें आपसी फूट डालकर इन पर राज कर सकें, अलगाव की स्थिति उत्पन्न कर सकें और इनमें दूरियाँ पनपने लगे। गाँव में कोलियरी खुल जाने से आदिवासियों को कोई लाभ नहीं हुआ, बल्कि रोजगार के लिए बाहर शहर की ओर पलायन कर रहे हैं और शहर के वाशिंदे गाँव पर राज कर रहे हैं। गाँव की स्त्रियाँ सुरक्षित नहीं रही हैं। इन परिस्थितियों को देखते हुए किशोर तथा उसके साथियों ने आदिवासियों में चेतना जाग्रत करने का कार्य किया ताकि वे अपने अधिकारों के प्रति सचेत और जागरूक बन सकें और एकजुट होकर इन अत्याचारों तथा शोषणों के विरुद्ध आवाज बुलन्द कर सकें एवं अपने अधिकारों के लिए संघर्ष कर सकें। वस्तुतः यह इसी का परिणाम है कि किशोर चुनाव जीत जाता है और जनता को उनका अपना सही जननायक मिल जाता है तथा अम्बाघाट गाँव में फिर से खुशियों की लहर फैल जाती है। कुल मिलाकर यह उपन्यास आदिवासी समुदाय के जीवन का वास्तविक सच उजागर करता है। लेखक ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि आज के इस उपभोक्तावादी युग में शिक्षित आदिवासी युवा पीढ़ी ही अपने समाज का नेतृत्व कर उसे आगे ले जा सकती है।

## धार

दो वर्षों बाद हमारा देश स्वतंत्रता की ७५वीं वर्षगांठ मनाएगा। इन बीते सालों में देश ने विश्व पटल पर अपनी अमिट पहचान छोड़ी, चाहे ज्ञान-विज्ञान सूचना-प्रौद्योगिकी हो या अंतरिक्ष विज्ञान, रक्षा विज्ञान हो। भारत एक विकासशील देश होते हुए भी उसने अपने को विकसित देशों की श्रेणियों में ला खड़ा किया है। पर इन सभी उपलब्धियों के साथ-साथ स्वतंत्रता के वर्षों

बाद देश का एक बड़ा तबका आज भी राजनीतिक और आर्थिक रूप से अत्यंत गरीब और शोषित है वह है आदिवासी समुदाय। 1990 में प्रकाशित संजीव कृत 'धार' आदिवासियों के सामाजिक और राजनीतिक शोषण का कारुणिक पक्ष उजागर करता है। स्वतंत्रता के बाद भारत का औद्योगिक विकास आज आदिवासी इलाकों में प्राकृतिक संसाधनों और सस्ते श्रम के शोषण से ही उपलब्ध हुआ है। पर देश के इस आर्थिक विकास की उपलब्धि में आदिवासी समाज को सहभागी नहीं बनाया गया और वह हमेशा ही समाज में उपेक्षित, घृणित और असभ्य करार दिया गया। यह उपन्यास एक ऐसी ही वास्तविक घटना पर आधारित है। प्रस्तुत उपन्यास झारखंड के संथाल परगना के आदिवासी समाज के शोषण, संघर्ष और सामाजिक कुरीतियों को उजागर करता है। इसके अलावा यह कोयलांचल में राजनीति और माफिया के गठजोड़ को भी प्रदर्शित करता है। मैना संजीव के उपन्यास की कथा नायिका है। सारी कथा मैना, उसके परिवार एवं बाँसगड़ा आदिवासी समाज के इर्द-गिर्द घूमती है। बाँसगड़ा कोयलांचल क्षेत्र में महेन्द्र बाबू नामक एक प्रभावशाली व्यक्ति ने तेजाब का कारखाना खोला है जो उस क्षेत्र के लोगों के लिए सिर दर्द और जहरीली धुआँ का कारण है। जब विरोध का स्वर मुखर होने लगा, महेन्द्र बाबू ने अपने विषैले व्यापार को धर्मसम्मत ठहराने के लिए टेंगर, मैना के पति जैसे धर्मभीरु व्यक्ति को तेजाब फैक्टरी में चौकीदार की नियुक्ति देता है और कहता है कि यह कारखाना आदिवासियों की क्षुधा को खत्म करेगा। महेन्द्रबाबू के गुंडों ने तेजाब फैक्टरी के विरोध में खड़े होने वाली जनता को तोड़ने के लिए कोकल, मैना के पति जैसे आदिवासी युवकों को भी फैक्टरी में नौकरी दे दी। टेंगर की बेटी मैना एक पढ़ी-लिखी औरत नहीं होने के बावजूद तेजाब की फैक्टरी के पर्यावरण पर दुष्प्रभाव से परिचित थी। अंचल के लोग आए दिन तेजाब के रिसाव से झुलसते रहते थे। मैना महेन्द्र बाबू के इस तथाकथित धर्मसम्मत तेजाब की फैक्टरी के खिलाफ संघर्षरत होती है एवं अपने पिता और पति द्वारा महेन्द्रबाबू के मुनाफे के कारोबार में दिए साथ का विरोध करती है। परिणामस्वरूप महेन्द्रबाबू और उसके अमला, स्थिति बनाकर मैना को उसमें फंसा देते हैं। मैना का बाप और पति उसके खिलाफ झूठी गवाही देकर उसे जेल भिजवा देते



हैं। महेंद्र सिंह ने बहला-फुसला कर मैना के पिता की सारी जमीन हथिया ली। इसके अतिरिक्त लेखक ने कोयले के अवैध खनन पर प्रकाश डाला है। महेंद्र सिंह जैसे ठेकेदारों की कृपा से जंगल नष्ट हो रहे हैं। पुलिस प्रशासन भी उनके साथ मुनाफा कमाने में लिप्त है। कुल मिलाकर पर्यावरण संरक्षण, कोयला खदान गिरोह, आदिवासी शोषण, बाहरी संस्कृति का हस्तक्षेप आदि इस उपन्यास का केंद्रीय विषय है।

### गगन घटा घहरानी

‘गगन घटा घहरानी’ उपन्यास का प्रकाशन 1991 में हुआ था। इस उपन्यास में मनमोहन पाठक ने उरांव समुदाय के संघर्षों को चित्रित करने का प्रयास किया है साथ ही पूरी कथा उरांव समुदाय के इर्द-गिर्द घूमते हुए दृष्टिगोचर होती है। आदिवासियों के जल, जंगल, जमीन पर से अधिकार छीन लिये गये। जंगलों में लकड़ियाँ काटने पर रोक लगा दी गई और पूंजीपति वर्ग बेरोक-टोक स्वयं जंगल से लकड़ियों का सफाया कर तीव्र रूप से मुनाफा कमाने में लगे हैं। वे लोग तो मुनाफा अर्जित करने में इस कदर व्यस्त हैं कि प्रकृति पर खतरे का तनिक भी आभास नहीं। जंगल अपनी शरण में आने वाले प्रत्येक प्राणी को बिना किसी भेदभाव के शरण देता है, और स्वेच्छा से जीवन जीने का अधिकार प्रदान करता है। किसी व्यक्ति विशेष की सत्ता स्थापित नहीं होती, बल्कि प्रकृति ही सर्वप्रमुख है। किन्तु जमींदारों, ठेकेदारों के प्रवेश से जंगल में उनकी ही सत्ता स्थापित हो चली जो मनुष्य होते हुए भी मनुष्यता से कोसों दूर हैं। आदिवासी समाज के लोगों में अपने अधिकारों के प्रति चेतना जागृत करने की बहुत आवश्यकता है जिससे वे अपने अधिकारों के प्रति एकजुट होकर मांग कर सकें। सोनाराम इस उपन्यास में नायक के रूप में उभरकर सामने आता है और लोगों को संगठित करने का कार्य करता है। इन्हें अपने जल, जंगल, जमीन से जितना प्रेम है उतना ही अपने लोगों के बीच बने विश्वास से है। इसलिए सोनाराम लोगों में जागृति फैलाने का कार्य करता है जो एक विस्तृत आन्दोलन का रूप ले लेता है। ये अपनी भूमि को ऐसे लोगों के हाथ में नहीं देना चाहते हैं जो विनाश की ओर ले जाए। सोनाराम की इसी सोच ने प्रकाश जैसे शिक्षित व्यक्ति की सोच को हिलाकर

रख दिया। वह अपने आपको सोनाराम की सोच के सामने छोटा समझने लगा। यह उपन्यास आदिवासी समाज के जीवन दर्शन के अनुरूप फिट बैठता है।

### जंगल के गीत

पीटर पॉल एक्का द्वारा रचित 'जंगल के गीत' उपन्यास में 'तुंबा टोली' में निवास करने वाले उरांव समुदाय के जीवन को दिखाया गया है। यह उपन्यास करमा और करमी के बलिदान की गाथा है जिन्होंने गाँव को एकता के सूत्र में पिरोया और उसे आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। अंग्रेजों और उसके कारिंदों के अत्याचार से त्रस्त साधारण जन जब तक एकजुट होकर उनके विरुद्ध आवाज नहीं उठाएगी तब तक उनका अत्याचार और शोषण निरंतर जारी रहेगा। आवश्यक है बिरसा मुंडा जैसे जननायक की जो लोगों में जाग्रति (चेतना) फैलाए और गुलामी से छुटकारा पाने के लिए प्रेरित करे। उपन्यास का पात्र करमा बिरसा मुंडा के सिद्धांतों पर चलकर अपने आदिवासी लोगों में चेतना जाग्रत करता है और एकता का शंखनाद फूंकता हुआ सबको साथ लेकर बढ़ता है। इस उपन्यास में पूरे गाँव का सपना दिखाई देता है जहाँ आदिवासियों पर किसी का शासन नहीं होगा, वे ही इस जल, जंगल, जमीन के मालिक होंगे और पहले की भांति सभी समान रूप से प्रकृति के संरक्षण में जीवनयापन कर सकेंगे। इसके अतिरिक्त लेखक ने इस उपन्यास में जहाँ एक तरफ चेतना जाग्रत करने में पुरुषों के योगदान को दिखाया है वहीं दूसरी तरफ स्त्रियों की भागीदारी को भी दिखाया है और यह बताने का प्रयास किया है कि पुरुष और स्त्री दोनों का सहयोग बहुत जरूरी है।

संस्कृति की अपूर्व छटा इस उपन्यास में देखने को मिलती है जिससे आदिवासी संस्कृति जीवन्त हो उठी है। गीत एवं नृत्य उनके जीवन का महत्वपूर्ण अंग है जिसके माध्यम से आन्तरिक उल्लास एवं अदम्य जिजीविषा विद्यमान रहती है। लेखक ने संस्कृति की खूबसूरत कड़ियों को बड़े सहज और उम्दा तरीके से उभारने का सफलतम प्रयास किया है।

## सीता

लेखिका रमणिका गुप्ता के दो उपन्यास 'सीता' तथा 'मौसी' आदिवासी जीवन और संघर्ष को केंद्र में रखकर लिखा गया है जिसका प्रकाशन 1996 में हुआ था। लेखिका ने 'सीता' उपन्यास में कोयला खदान की वास्तविकता से साक्षात्कार कराया है। मालिक, ठेकेदार, दलाल सभी स्वार्थ और लालच के वशीभूत होकर मजदूर वर्ग का भयानक शोषण करते हैं। शोषण का ऐसा जाल बिछाया गया है जिसमें फँसने के लिए मजदूर वर्ग विवश हैं। चाहे खदान मालिक, ठेकेदार या पुलिस हो, हर कोई केवल लाभ कमाने की होड़ में लगा हुआ है। कोयले खदानों में मजदूरों की सुरक्षा से ज्यादा महत्वपूर्ण है लाभ कमाना। मजदूर भी जीविकोपार्जन के लिए अपनी जान जोखिम में डालने के लिए विवश है। यहाँ तक कि उन्हें अपने जल-जंगल-जमीन से विस्थापित कर दिया गया और वे लोग ऐसी बस्ती में जाकर बसे जहाँ प्रदूषण सर्वत्र व्याप्त है। सोनगढ़ा एक ऐसी बस्ती है जो कारखानों से निकलने वाले धुएँ, धूल से भरी हुई है। प्रदूषण के शिकार होने के बावजूद भी उन लोगों ने बस्ती में रहना नहीं छोड़ा क्योंकि मजदूरों या गाँव वालों के पास आय का दूसरा कोई साधन नहीं था। वे लोग प्रत्येक दिन खटते थे। उनसे अत्यधिक परिश्रम करवाया जाता था। मालिक, ठेकेदार, दलाल सब चैन की नींद सोते थे। उन लोगों ने गाँव में भट्ठा लगाने, कोयला खदानों के मालिकों के विरुद्ध आवाज बुलन्द किया, लेकिन आय का दूसरा कोई साधन न होने के कारण कोयला खदानों में काम करने के लिए विवश थे।

प्रस्तुत उपन्यास में सीता के संघर्षों की गाथा है। सीता अत्यंत परिश्रमी स्त्री के रूप दृष्टिगोचर होती है जैसा कि प्रत्येक आदिवासी स्त्रियाँ परिश्रमी और मेहनती होती हैं। अपने परिश्रम के बल पर सीता कोल-फील्ड क्षेत्र में सर्वप्रिय बन जाती है। जहाँ एक ओर समर्पित नारी के रूप में यासीन मियां द्वारा छली जाती है वहीं दूसरी ओर एक जुझारू और संघर्षशील नारी के रूप में मजदूर और स्त्री जाति के लिए लड़ाई लड़ती है। वह कोयला खदान में एक मजदूरनी के रूप में कार्य करती थी, अब वह आन्दोलन में शामिल होने लगी है। वास्तव में

यह उपन्यास समस्त स्त्री समुदाय की कथा है जिन्होंने पुरुषवर्चस्ववादी समाज (मानसिकता) के विरुद्ध आवाज बुलंद किया। अन्याय और शोषण की शिकार होते हुए भी सीता का विश्वास और आत्मबल बढ़ता ही चला गया। यही दृढ़ विश्वास और आत्मबल ही उसके हिम्मत को बरकरार रखता है, जो उसे प्रेरणा तथा ऊर्जा देने का कार्य करती है। साथ ही साथ गाँव के लोगों के बीच अंधविश्वास इतना अधिक बढ़ गया है कि उन लोगों का विश्वास और भी दृढ़ होता चला गया, लेकिन सीता उनके बीच फैल रहे अंधविश्वास के भ्रम को, वाहयाडंबरों, रूढ़ियों, कर्मकांडों को दूर करने का प्रयत्न करती है और उनमें चेतना जाग्रत करने का कार्य करती है जिससे वे अपने अधिकारों की मांग कर सकें। वह धीरे-धीरे सब कुछ समझ रही है एवं पूरे स्त्री जमात को एकजुट करने का प्रयास कर रही है। इस पुरुषवर्चस्ववादी समाज में स्त्रियाँ भी अपनी अस्मिता और अस्तित्व और अपनी पहचान निर्मित करना चाहती हैं। अपनी अस्मिता और अस्तित्व की रक्षा के लिए व्यक्तिगत रूप से लड़ना असम्भव है। सीता समयानुसार चलना चाहती है। वह स्त्रियों के पक्ष में है और स्त्रियों को नौकरी दिलवाना चाहती है। इस पुरुषवर्चस्ववादी समाज में पुरुष की ही सत्ता स्थापित है, लेकिन सीता पुरुष की सत्ता के साथ-साथ स्त्रियों की सत्ता को भी स्थापित करना चाहती है। इसलिए लेखिका इस उपन्यास में सीता के माध्यम से स्त्रियों में विश्वास, दृढसंकल्प के बीच सीता को आगे खड़ा कर लड़ते हुए दिखाया है।

## मौसी

इस उपन्यास में मौसी के जीवनगत अनुभव और संघर्षों की कथा है। पूरी कहानी मौसी के इर्द-गिर्द ही घूमती हुई दृष्टिगोचर होती है। यह एक केवल मौसी के संघर्षों की गाथा नहीं है, बल्कि पूरी आदिवासी स्त्री जगत के संघर्ष की गाथा है। इस उपन्यास में मौसी की भी अपनी कुछ चाह थी, कुछ आकांक्षा थी, लेकिन वह दूसरे की चाह और आकांक्षा में परिवर्तित हो गयी। मौसी ने सलीम, नेताजी और न जाने कितने पुरुषों की इच्छापूर्ति की है। लेखिका ने मौसी के माध्यम से औरत की पीड़ा को व्यक्त किया है। मौसी को ऐसा लगता है कि सभी

पुरुष जाति चाहे हिन्दू हो या मुसलमान एक जैसे होते हैं जो स्त्री को बाँधकर रखना चाहते हैं। वह स्वयं अपना निर्णय लेने के लिए स्वतंत्र नहीं होती है। यह पुरुषवर्चस्ववादी समाज स्त्री को घरेलू बनाकर रखते हैं ताकि वह हर छोटे से बड़े फैसले के लिए उन पर निर्भर रह सके। इसके साथ ही प्रस्तुत उपन्यास में उच्च वर्गों के मूल्य पर सवाल उठाया गया है। जहाँ एक ओर वे लोग इन्हें (आदिवासी) निम्न जाति का समझकर इनके घर का पानी तक नहीं पीते हैं, वहीं दूसरी ओर अपनी वासनापूर्ति के लिए समस्त वर्जनाओं को भूल कर इस समाज की औरतों को ग्रहणीय वस्तु समझ लेते हैं।

आदिवासी समाज की यह विशेषता रही है कि उनके यहाँ जातिगत भेदभाव नहीं है। सभी व्यक्ति समान हैं। लेखिका ने स्त्री-पुरुष को सहयोगी के रूप में देखा है, इसलिए मौसी के माध्यम से लेखिका ने स्त्री-पुरुष के सहयोगी रूप को स्थापित करने का प्रयास किया। मौसी किसी पर निर्भर रहकर काम करने वाली स्त्री नहीं है, वह स्वयं पुरुष के साथ कंधा-से-कंधा मिलाकर चलने वाली स्त्री है। आदिवासी समुदाय प्रकृति-प्रदत्त जीवन जीते आए हैं। भविष्य के बारे में चिंतन-मनन करना उनके स्वभाव के विपरीत रहा है। सामूहिक मूल्य आदि से अंत तक व्याप्त रहा है जिसने जीवन को गतिशील बनाए रखा है, किन्तु संक्रमण की स्थिति उत्पन्न होने से उनके मूल्य नष्ट होते जा रहे हैं जिस पर रमणिका गुप्ता ने ध्यान आकृष्ट किया है।

### **जहाँ बाँस फूलते हैं**

श्रीप्रकाश मिश्र का यह उपन्यास 1996 में प्रकाशित हुआ था। 1962 में लालडेडा के नेतृत्व में हुए मिजो विद्रोह की पृष्ठभूमि में लिखा गया उपन्यास है। इस उपन्यास में मिजोरम को आजाद करने के लिए मिजो समुदाय का वाई (गैर मिजो) के विरुद्ध विद्रोह की समरगाथा है। मिजो समुदाय की अपनी मातृभूमि, सांस्कृतिक प्रदेश मिजोरम पर वाइयों का अधिकार स्थापित था। वे केवल भू-भाग पर ही नहीं, बल्कि कण-कण, जन-जन पर अपना अधिकार समझते थे जिससे न केवल मिजो संस्कृति प्रभावित हुई, बल्कि उनका अस्तित्व भी संकट में आ गया। अतः मिजो समुदाय के लोगों ने आजादी का सपना देखा और उनका मानना है कि

यह सपना बिना विद्रोह के असम्भव है। एक तरफ वाइयों का अत्याचार है तो दूसरी तरफ मिजो संस्कृति पर कुठाराघात। ढोला के शब्दों में, “हम लोग माँगते नहीं, जितनी जरूरत होती, उठा ले जाते हैं। और इस पर कोई एतराज नहीं करता। पर तुम वाइयों ने हमारी कौम की नई पीढ़ी को भिखारी बना दिया है। हम जब अपनी अस्मिता कायम रखने की बात कहते हैं तब इस भिखमंगई के खिलाफ लड़ने की बात भी उसमें शामिल होती है।”<sup>46</sup> संस्कृति को संरक्षित करने के लिए परिवर्तन आवश्यक है, किन्तु सांस्कृतिक संक्रमण की स्थिति अस्तित्व पर प्रश्न चिन्ह लगा देती है। अस्तित्व पर संकट असहनीय हो जाता है तो एक प्रकार के असंतोष, क्षोभ की भावना उत्पन्न कर देता है। यही स्थिति मिजो समुदाय के साथ थी। इस उपन्यास में मिजो समुदाय के जीवन, उनकी समस्या, उनके साहस को लेखक ने सफलता के साथ दर्शाया है।

### काला पादरी

लेखक तेजिन्दर ने सन् 2000 में प्रकाशित अपने उपन्यास ‘काला पादरी’ में धर्मांतरण की समस्या को उठाया है। आजादी के पहले तक आदिवासियों के धर्मांतरण की प्रक्रिया बहुत तेज थी। धर्म की कोई अवधारणा न होने के कारण भोले-भाले आदिवासियों को ईसाई धर्म में परिवर्तित करने की होड़-सी थी। लेखक ने ईसाइयों के धर्म परिवर्तन के पीछे की मंशा को उजागर किया है। प्रभु यीशु के नाम पर ईसाइयों ने सारी सुविधाएं प्रदान की, बंधुआ मजदूरी से मुक्ति दिलाई, उनकी स्थिति में सुधार हुआ, किन्तु यह सब उन्होंने स्वार्थ के वशीभूत ही किया। कहने का तात्पर्य यह है कि हिन्दू ठेकेदारों और ईसाई अनुयायियों की सोच में विशेष भिन्नता नहीं थी। एक ओर आदिवासियों की दयनीय स्थिति में सुधार हुआ तो दूसरी ओर धर्म के बंधन में बंधकर उनका स्वतंत्र अस्तित्व, उनकी पहचान नष्ट हो गई। जेम्स खाखा की माँ का कहना है कि चर्च की सेवा में अपना जीवन अर्पित कर देना चाहिए जिसने उन लोगों को नया जीवन प्रदान किया। इस पर जेम्स के विचार “क्या यह एक तरह का बंधुआ विचार नहीं है”<sup>47</sup> वक्ता के साथ-साथ पाठक को सोचने पर विवश कर देता है। इस उपन्यास में लेखक ने

यह भी दिखाने का प्रयास किया है कि आदिवासियों को हिंदू, सिख, ईसाई धर्म में परिवर्तित कर दिया गया, किन्तु किसी भी धर्म ने उन्हें वह आत्मसम्मान, आत्मगौरव का बोध प्रदान नहीं किया जो निजी संस्कृति प्रदान कर सकती है।

लेखक ने अकाल के भयावह सच को उजागर किया है। जेम्स खाखा द्वारा दिये गये विवरण में अत्यंत गहरा तथ्य छुपा हुआ है जो हृदयद्रवित कर देता है। एक ओर बारिश न होने की वजह से सूखा पड़ रहा है तो दूसरी ओर इस दारुण स्थिति में सरकार कोई विशेष कदम नहीं उठा रही थी। अत्यंत व्यंग्यात्मक तरीके से जेम्स द्वारा वास्तविकता को उजागर किया गया है। इसके साथ ही भूख की स्थिति को बेहद मार्मिक ढंग से चित्रित किया गया है। लेखक ने दिखाने का प्रयास किया है कि लोगों के चेहरे पर भूख का दृश्य स्पष्टतः नजर आ रहा है जो किसी भयावह दृश्य से कमतर नहीं है।

### **अल्मा कबूतरी**

इस उपन्यास (2000) में लेखिका मैत्रेयी पुष्पा ने कबूतरा समुदाय के जीवन और संघर्ष को दिखाया है। कबूतरा समुदाय की स्थिति समाज में अच्छी नहीं थी। उनकी जमीन को खाली करवाने के लिए, उन्हें कुचलने के लिए ठेकेदारों का सहारा लिया जाता है और खेत खाली करवा लिये जाते हैं। हिंसात्मक तरीके से उन्हें जमीन से बेदखल कर दिया जाता है। सवर्ण (कज्जा) वर्ग के लोग उनसे अत्यंत घृणा करते हैं और उन्हें बसने ही नहीं देते। कबूतरा समुदाय से दूर रहने के लिये समाज में कई कथाएँ प्रचलित हैं जिनका भय दिखाकर बच्चे, बड़े-बूढ़े को उनसे दूर रहने के लिए कहा जाता था। यद्यपि इन कथाओं में सत्यता लेश मात्र भी नहीं होती थी, किन्तु ये कथाएँ विषवृक्ष के रूप में फैलती रहती हैं।

कबूतरा समुदाय अपराध वृत्ति से ग्रस्त है। अपनी जीविका चलाने के लिये चोरी जैसे अपराध करने के लिए विवश हैं। इसके लिये जेल की यातनाएँ, पुलिस का अत्याचार सहना पड़ता है। आवश्यक नहीं कि समुदाय का प्रत्येक व्यक्ति चोरी करता हो। लेकिन पुलिस की

दृष्टि में प्रत्येक व्यक्ति (कबूतरा) चोर होता था। चाहे उसने चोरी न की हो। झूठा आरोप लगाकर उन्हें डकैत साबित करने से वे बाज नहीं आते। यह उनके लिए आम बात थी। गलत आरोप गढ़कर उन्हें अपराधी घोषित कर दिया जाता।

कबूतरों का जीवन स्थिर नहीं रहा है। वे अस्थिर जीवन जीने के लिए विवश हैं। उनके जीवन को नष्ट करने के लिए मुख्यधारा हमेशा तैयार रही है। पुलिस का घोरतम अत्याचार तथा ठेकेदारों के शोषण के बावजूद जीने की अदम्य जिजीविषा उनमें विद्यमान रहती है। प्रत्येक जाति के बच्चों को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार है ताकि वह अपने परिवार का, अपने समाज का नाम उज्ज्वल कर आगे बढ़ सके। इस वास्तविकता से कबूतरा समुदाय अनजान नहीं था। ऐसा नहीं है कि वे लोग शिक्षा नहीं चाहते हैं। वे लोग भी चाहते हैं कि उनके बच्चे पढ़े-लिखे क्योंकि शिक्षा प्राप्त करना किसी सपने से कम नहीं, किन्तु समाज के कानून का भय उन्हें यह सपने देखने से रोकता है। कदमबाई ने वह हिम्मत जुटाया और राणा को स्कूल भेजने का निश्चय किया। किन्तु यह पथ उतना आसान नहीं था। पग-पग पर बाधाएँ उत्पन्न हो रही थी, चाहे विद्यालय का वातावरण हो, या स्वयं समाज - दोनों मिलकर उसे आगे बढ़ने से रोक रहे थे। इस प्रकार आदिवासियों को शिक्षा प्राप्त करने में जिन समस्याओं का सामना करना पड़ता है उसकी चर्चा लेखिका ने बखूबी किया है।

‘अल्मा कबूतरी’ स्त्रियों पर हो रहे शोषण तथा संघर्ष का जीवंत दस्तावेज है। ‘अल्मा कबूतरी’ की अल्मा, कदमबाई, भूरीबाई जैसी स्त्रियाँ न केवल उपेक्षित, शोषित होती हैं, बल्कि अपने लिए लीक से हटकर पथ निर्मित करती हुई समाज को चुनौती देती हैं। अल्मा का शारीरिक शोषण होता है, उसकी देह और हृदय को तार-तार करने में कोई कसर नहीं रखी जाती है। किन्तु वह टूटकर खड़ी हुई और अंत में एक नवीन राह की ओर अग्रसर होने की संभावना इस उपन्यास में देखी गई।



## जंगल जहाँ शुरू होता है

लेखक संजीव कृत 'जंगल जहाँ शुरू होता है' का प्रकाशन 2000 में हुआ था। इस उपन्यास में थारू समुदाय के जीवन और संघर्ष को कथाकार संजीव ने बड़ी बारीकी से चित्रित किया है जिसमें बिहार राज्य के चम्पारण जिले की कथा का ताना-बाना बुना गया है। थारू समुदाय के लोग बड़े शांत और सरल स्वभाव के होते हैं। किसी को हानि नहीं पहुंचाते हैं, किन्तु उनको हानि पहुंचाने वाले बहुत सारे तंत्र यथा जाति-धर्म, जमींदारी, पुलिस, अफसरशाही, मौजूदा राजनीति विद्यमान रहे हैं। इन्होंने मिलकर थारू आदिवासी समुदाय के जीवन और संस्कृति को अपार क्षति पहुंचाई है। इस उपन्यास में उनका डाकू बनना कहीं न कहीं इसी का परिणाम था। उपन्यास का पात्र काली एक कोमल हृदय, धैर्यवान थारू युवक होने के बावजूद 'काली सरदार' के रूप में परिणत हो जाता है। लेखक ने दिखाया है कि किस प्रकार पुलिस का आतंक सर्वत्र व्याप्त रहा है। जंगल से डाकूओं के सफाया के लिए पुलिस अधिकारी तैनात किए गए जिसका मुख्य प्रभारी कुमार को बनाया गया। कुमार ने पूरी ईमानदारी और निष्ठा से जिम्मेदारी को ग्रहण किया और काम को लक्ष्य तक पहुंचाया। लेखक ने संकेत किया है कि डाकूओं का सफाया करने से पूर्व उन कारणों की खोज करना आवश्यक है जिसकी वजह से डाकू बनने की नौबत आती है तभी समस्या का समाधान हो सकता है।

## छैला सन्दु

मंगल सिंह मुंडा द्वारा रचित 'छैला सन्दु' उपन्यास 2004 में प्रकाशित हुआ था। लेखक ने इस उपन्यास में मुंडा समाज के जीवन, आदर्शों, गुणों-अवगुणों से साक्षात्कार कराया है। कोई भी समाज अच्छा या बुरा नहीं होता। प्रत्येक समाज की अपनी विशेषताएँ होती हैं। प्रस्तुत उपन्यास में मुंडा समाज अपने समस्त गुणों-अवगुणों के साथ उभरकर सामने आया है। तीन भागों में विभक्त यह उपन्यास आदिवासी समाज के संघर्षों, अदम्य जिजीविषा एवं परंपरा को एकसाथ प्रस्तुत करता हुआ दृष्टिगोचर होता है। उपन्यास में नायक 'सन्दु' का प्रादुर्भाव जनश्रुति

पर आधारित है जिसमें कल्पना का पुट देकर लेखक ने उपन्यास का आकार दिया। अन्य शब्दों में कहें कि सन्दु आदिवासी समाज का जननायक एवं जनप्रतिनिधि है।

प्रस्तुत उपन्यास में लेखक ने मुंडा समाज के प्रेम को चित्रित करने का प्रयास किया है। सन्दु जो कहानी का मुख्य पात्र है, सूबेदार हकीम सिंह की छोटी बेटी बुंदी से प्रेम करने लगता है। मुंडा समाज के लोग प्रेम को सत्य का रूप और समाज से ऊपर मानते हैं। यही वजह है कि सन्दु और बुंदी के प्रेम को जीवंत रखने के लिए वर्षों से शोषित होते आ रहे मुंडा समाज के लोग सूबेदार हकीम सिंह के खिलाफ विद्रोह करने के लिए तैयार हो जाते हैं। सन्दु वाद्य यंत्र की प्रतियोगिता में हिस्सा लेता है और विजय प्राप्त करता है। शर्तानुसार विजयी घोषित किए जाने वाले प्रतियोगी के गले में बुंदी को वरमाला डालना था, किन्तु सन्दु बुंदी का वरण अस्वीकार कर देता है। बुंदी भी पूर्णतया समर्पित होते हुए अपने प्राण त्याग देती है। इस उपन्यास में लेखक ने जातिगत द्वेष भावना से ऊपर उठकर मानवता को स्थापित करने का प्रयास किया है। यद्यपि उपन्यास की कथा का आधार पौराणिक है, किन्तु समस्या तात्कालिक है जो उपन्यास को महत्वपूर्ण बनाता है विशेषतः स्त्री समाज की समस्या को लेकर। स्वयं लेखक के शब्दों में - “कथा बहुत ही वैचारिक तीव्रता लिये हुए थी। आज भी है। और कल भी रहेंगी, जब तक कि मानव-समाज में जातीय विद्वेष रहेंगे और खासकर नारी जगत अपना इच्छित संसार न पा ले।”<sup>48</sup>

### जो इतिहास में नहीं है

राकेश कुमार सिंह का उपन्यास ‘जो इतिहास में नहीं है’ 2005 में प्रकाशित हुआ था। यह उपन्यास सिदो, कान्हू, चाँद, भैरव के नेतृत्व में उन आदिवासी समुदायों की समरगाथा है जिन्होंने अन्तिम साँस तक लड़ाई लड़ते हुए अपने आप को समर्पित कर दिया। इस उपन्यास में कहानी का ताना-बाना हारिल मुरमू के इर्द-गिर्द घूमता है। आदिवासियों ने अपनी मेहनत और परिश्रम के बल पर जंगलों को खेती योग्य भूमि बनाया और वे जंगल के स्थायी निवासी बन गए। इनकी एक सामाजिक व्यवस्था निर्मित हुई, किन्तु अंग्रेजों ने भू-राजस्व व्यवस्था

लागू कर जंगल की परंपरागत व्यवस्था को नष्ट कर दिया जिसके तहत जल, जंगल, जमीन पर अपना अधिकार जमाना शुरू किया। धन संचय, धन कमाना कम्पनी सरकार की अर्थव्यवस्था की मुख्य प्रवृत्ति थी। यदि उन्हें किसी भी प्रकार की प्राकृतिक सामग्री की आवश्यकता पड़ती तो उसके नाम पर उनसे कर वसूला जाता था। कारिन्दे, साहूकार, जमींदारों का अत्याचार लोगों पर दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा था। यह सब देखते हुए आदिवासियों के प्रतिनिधि, जननेता सिदो ने ईस्ट इंडिया कम्पनी के विरुद्ध आवाज उठाई और अपनी अस्मिता, अस्तित्व, संस्कृति की रक्षा के लिए संघर्षरत हुए। अन्य शब्दों में कहे तो हम कह सकते हैं कि इस उपन्यास में लेखक ने झारखंड के वीर संतालों के संघर्षों को चित्रित किया है जिन्होंने लोगों के भीतर चेतना फैलाने का कार्य किया ताकि लोग एकजुट होकर अपने अधिकारों की मांग कर सकें। परिणामस्वरूप पूरे वातावरण में संघर्ष की लहर दौड़ पड़ी। लेकिन उनके योगदानों की चर्चा इतिहास में नहीं है।

### **समर शेष है**

‘समर शेष है’ लेखक एवं पत्रकार विनोद कुमार का बहुचर्चित उपन्यास है जो 2005 में प्रकाशित हुआ था। यह उपन्यास शिबू सोरेन के जीवन-संघर्षों को अभिव्यक्त करता है। यह उपन्यास उनके जीवन में घटने वाली तमाम घटनाओं, आदिवासियों के लिए किये गये कार्यों और राजनीति में कदम रखने के इर्द-गिर्द घूमती है। साथ ही लेखक ने इस उपन्यास में झारखंड के मुद्दों को भी उठाया है। महाजनों द्वारा षडयंत्र करके सोबरन मांझी की हत्या करवा दी जाती है जिसने जनसमुदायों में निराशा का वातावरण उपस्थित कर दिया था। सोबरन मांझी ने आदिवासियों में जिस चेतना का संचार किया था, उसे अधिक तीव्र करने तथा उनके अधिकारों की लड़ाई लड़ने का कार्य शिबू सोरेन ने किया। आदिवासियों को एक ऐसे जननेता की आवश्यकता थी जो जुझारू होकर उनके अधिकारों के लिए लड़ सके। शिबू सोरेन ऐसे ही नेता हैं जिन्होंने आदिवासियों के बल पर लड़ाइयाँ लड़ी। इसे लक्ष्य तक पहुंचाने के लिए उन्होंने झारखंड मुक्ति मोर्चा का निर्माण किया। शिबू सोरेन ने महाजनी सभ्यता के विद्रुप चेहरे, उसकी

धोखाधड़ी और विश्वासघात के विरुद्ध संघर्ष किया। उन्होंने आदिवासी समुदाय को जन आंदोलन के लिए संगठित करने का कार्य किया। उन पर लोगों का विश्वास टूटता गया और वे सबके गुरुजी बन गए। महाजनों ने जो जमीन जबरदस्ती हड़प कर ली थी, शिबू ने उन जमीनों की धनकटनी करना शुरू किया जो धनकटनी आंदोलन कहलाया। उन्होंने कर्ज न लेने का आह्वान भी किया। मूल रूप से यह उपन्यास महाजनी शोषण के खिलाफ आदिवासियों के संघर्ष को दर्शाता है। साथ ही गैर आदिवासी राजनीतिज्ञों की कार्यप्रणाली को दर्शाया गया है जिनमें ए के राय, विनोद बिहारी महतो आदि प्रमुख हैं। एक प्रकार से कहा जा सकता है कि यह उपन्यास झारखंड आंदोलन के इतिहास का जीवंत दस्तावेज है।

### लौटते हुए

आदिवासी क्षेत्रों में बहिरागतों का प्रवेश हुआ तो बाहरी संस्कृति का हस्तक्षेप आदिवासी क्षेत्रों में देखा जा सकता है। इसका सबसे अधिक प्रभाव स्त्रियों पर अधिक पड़ा। बाहरी संस्कृति की मार स्त्रियों को अधिक झेलनी पड़ी। घर और बाहर की जिम्मेदारी उन पर आ पड़ी जिसके फलस्वरूप बड़े पैमाने पर आदिवासी महिलाओं का शहर की ओर पलायन हुआ। इसी विषय को केंद्र में रखकर 'लौटते हुए' (2005) उपन्यास की रचना की गई। लेखक वाल्टर भेंगरा 'तरुण' ने इस समस्या को अत्यंत करीब से देखा और उन्हें अत्यधिक प्रभावित किया तथा इसे अपने उपन्यास 'लौटते हुए' का विषय बनाया। उपन्यास के केंद्र में सलोमी और उसके जीवन की परिस्थितियाँ हैं। उसके घर का आर्थिक आधार उतना दुरुस्त नहीं था जिससे परिवार का जीवन निर्वाह हो सके। उपभोक्तावादी संस्कृति ने लोगों को अपनी चपेट में ले लिया है, आदिवासी इससे कैसे बच पाता। अतः आर्थिक समस्या और उपभोक्तावादी संस्कृति के आकर्षण ने सलोमी को दिल्ली जैसे महानगर की ओर प्रस्थान करने के लिए विवश किया। केवल सलोमी ही नहीं, उसके जैसी अन्य युवतियाँ भी इस चकाचौंध से स्वयं को निकाल नहीं पाती हैं और अपनी दुनिया को छोड़कर बाहर की दुनिया में प्रवेश करती हैं। एक ऐसी दुनिया जो छद्म से भरी है, जो अपने से छोटे तबकों को निगल लेना चाहती है। आदिवासी स्त्रियाँ इसका शिकार बनती हैं।

## रूपतिल्ली की कथा

श्रीप्रकाश मिश्र द्वारा रचित 'रूपतिल्ली की कथा' बहुचर्चित उपन्यास है जिसका प्रकाशन 2006 में हुआ था। यह उपन्यास आदिवासी समुदाय की जीवन-स्थितियों को रेखांकित करता है। इस उपन्यास में खासी समुदाय की पहचान, संस्कृति तथा जीवन-शैली का वर्णन किया गया है। रचनाकार ने मेघालय के वातावरण, समाज और आस-पास बसने वाले जनसमुदायों के जीवन को हूबहू चित्रित किया है। लेखक ने बताया है कि रूपतिल्ली मेघालय के पूर्वोत्तर क्षेत्र में स्थित है जहाँ के खासी समुदाय आपस में मिलजुलकर रहते हैं और आपसी सौहार्द का वातावरण निर्मित करते हैं। इस उपन्यास में लेखक ने 18वीं शताब्दी के अंत और 19वीं शताब्दी के आरंभ की परिस्थितियों का वर्णन किया है अर्थात् ब्रिटिश कालीन शासन व्यवस्था का इतिहास और खासी समुदाय की संघर्ष कथा है। धर्म परिवर्तन एक बड़ी समस्या है जिसे लेखक ने इस उपन्यास में सफलतापूर्वक दिखाया है। हम सभी जानते हैं कि प्रत्येक आदिवासी समुदाय का प्रकृति के साथ गहरा रिश्ता रहा है। प्रकृति से अलग आदिवासी समुदाय का कोई अस्तित्व नहीं है। इस उपन्यास में प्रकृति के साथ खासी समुदाय के संबंध को चित्रित करने के साथ-साथ संस्कृतीकरण को भी दिखाने का सार्थक प्रयास किया गया है। एक संस्कृति का दूसरी संस्कृति में परिवर्तन होते हुए दिखाया गया है और दूसरे धर्म के ठेकेदार अपने धर्म में शामिल करने के लिए विवश करते हैं। परंतु वास्तविकता यह है कि आदिवासियों ने अपनी संस्कृति को बचाने का हरसंभव प्रयास किया है जिसका एक लंबा संघर्ष और इतिहास रहा है।

## धूणी तपे तीर

लेखक हरिराम मीणा कृत 'धूणी तपे तीर' का आदिवासी उपन्यासों की परंपरा में महत्वपूर्ण योगदान है। इस उपन्यास में राजस्थान के दक्षिणी भू-भाग की कथा का वर्णन है। इसमें भील जाति को संघर्षरत दिखाया गया है। इसमें लेखक ने सन् 1913 के मानगढ़ आंदोलन की घटना पर आधारित कथा का वर्णन किया है जिसने लोगों को मानसिक रूप से ही नहीं, उनकी मानवीय संवेदना को भी हिला कर रख दिया है। आदिवासियों का अपना जल-जंगल-

जमीन पर अधिकार होने के बावजूद बाहरी संस्कृतियों के कारण उनका अपनी ही भूमि पर से अधिकार छीन लिया गया। अंग्रेजों का आधिपत्य स्थापित हो गया था और कारिन्दे, जमींदार, ठेकेदार, शासन-प्रशासन सभी का प्रभाव सर्वत्र व्याप्त हो गया। उनका अत्याचार दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही चला गया था। उन्होंने न केवल आदिवासी क्षेत्रों में हस्तक्षेप किया, बल्कि उनके समाज, उनकी संस्कृति में भी हस्तक्षेप किया। अंग्रेजों के विरुद्ध जागरूकता का अभियान गोविन्द गुरु ने छेड़ा। आदिवासियों को शराब की गहरी लत थी। अतः गोविन्द गुरु ने शराब पेय को जड़ से समाप्त करने के लिए आवाज उठाई और उनमें चेतना जाग्रत किया। गोविन्द गुरु द्वारा चेतना का अलख जगाने का परिणाम था कि आदिवासी अपने अधिकारों की मांग के लिए उद्वृत हुए और अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह का शंखनाद फूँका।

### **ग्लोबल गाँव के देवता**

‘ग्लोबल गाँव के देवता’ (2009) आदिवासी जीवन और संघर्ष का जीवंत दस्तावेज है। लेखक रणेन्द्र ने इस उपन्यास में असुर आदिवासी समुदाय की कथा को पूर्ण यथार्थ एवं मार्मिकता के साथ उजागर किया है। लेखक ने उनके साथ जीवन व्यतीत किया है और उन्हें बहुत करीब से जानने-समझने का अवसर मिला। इसलिए वे उनके जीवन स्थितियों, संघर्षों, जीवन-शैली, संस्कृति, भाषा से रूबरू हो पाए और उनके सुख-दुःख में सहभागी बने जिसे अपने उपन्यास में उभारा है। असुर समुदाय के बारे में मिथ प्रचलित है कि वे बड़े नाखूनों और बड़े दाँत वाले तथा खूंखार प्रवृत्ति के होते हैं। उपन्यास की शुरुआत वक्ता के नियुक्ति पत्र से होती है जिनकी नियुक्ति कोयलबीघा के भौरापाट क्षेत्र के जंगलों के मध्य आवासीय विद्यालय में विज्ञान शिक्षक के रूप में होती है। यह विद्यालय आदिवासी लड़कियों के लिए खोला गया था - पीटीजी गर्ल्स रेजिडेंशियल स्कूल। भौरापाट बॉक्साइट खदान के लिए प्रसिद्ध था जहाँ से बॉक्साइट बड़े पैमाने पर खोदकर निकाले गए थे और खोदे हुए गड्ढे को भरने की कोई व्यवस्था उपलब्ध नहीं थी। अर्थात् आवश्यकता पड़ने पर बड़ी-बड़ी कंपनियाँ बॉक्साइट खनन के द्वारा बॉक्साइट निकालकर गड्ढे कर देती है, किन्तु उन गड्ढों को भरना उचित नहीं समझती है

जिसका नुकसान ग्रामीणों को उठाना पड़ता है। बारिश के दिनों में इनकी स्थिति अत्यंत दयनीय हो जाती है जहाँ समस्त गड्ढे बड़े जलाशयों का रूप ले लेते हैं। इस उपन्यास में असुर समुदाय की शिक्षा व्यवस्था पर भी प्रश्न उठाया गया है। बड़े एवं सुंदर कैम्पस से युक्त आवासीय स्कूलों की स्थापना तो होती है जहाँ विद्यार्थी के समग्र विकास की सम्पूर्ण व्यवस्था (खेल-कूद, चित्र-संगीत, वाद-विवाद आदि) उपलब्ध थी, लेकिन वहाँ एक भी असुर समुदाय के बच्चे शिक्षा प्राप्त नहीं कर पाते। यह विडम्बना ही है कि उनके घरों को नष्ट कर स्कूल की नींव रखी गई, उनके ही बच्चे इस स्कूली योजना से बाहर हैं। कुल मिलाकर लेखक ने कॉरपोरेट जगत के विनाशकारी स्वरूप का आंखों देखा हाल बयान किया है जिससे आदिवासी समुदाय की सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना नष्ट होती जा रही है।

### हुल पहाड़िया

‘हुल पहाड़िया’ राकेश कुमार सिंह की बहुचर्चित और सर्वप्रसिद्ध उपन्यास है। ‘जो इतिहास में नहीं है’ के बाद 2012 में इस उपन्यास का प्रकाशन हुआ था। यह उपन्यास पहाड़ी इलाके के आदिवासियों के निरंतर जीवन-संघर्ष की गाथा का चित्र अंकित करता है। यह कहानी झारखंड के पलामू क्षेत्र के इर्द-गिर्द घूमती है। आदिवासियों की संस्कृति बचाने का अथक प्रयत्न किया गया है। उनके भीतर चेतना जाग्रत करने का सफल कार्य तिलका मांझी ने किया। उनके इतिहास पर दृष्टिपात करें तो आदिवासियों के लिए उनके द्वारा किए गए कार्यों को विस्मृत नहीं किया जा सकता। यह हूल आंदोलन अंग्रेजी शासन के अत्याचार के विरुद्ध आंदोलन था। यह लड़ाई केवल एक तिलका मांझी की लड़ाई न होकर समस्त आदिवासियों के हक की लड़ाई थी। हालांकि इतिहास में कहीं भी उनके योगदानों की चर्चा नहीं की गई है। लेखक ने उपन्यास के आरंभ में तिलका मांझी के संदर्भ में बहुत ही गर्व के साथ बताया है, “बाबा तिलका मांझी पर लिखना मधुमक्खी के छत्ते को छेड़ने जैसा है। तिलका बाबा संताल समाज के लिए उनका तिलका मुरमू है। कुछ पहाड़िया विद्वानों के लिए यह जबरा पहाड़िया है। इतिहासविदों के एक समूह के लिए यह ‘मांझी’ नाविक/मल्लाह जाति का व्यक्ति है।”<sup>49</sup> वैसे भी पहाड़ी इलाके के

आदिवासी समुदाय भारत के निवासी होने के बावजूद उन्हें हाशिए के केंद्र में लाकर खड़ा कर दिया है। लेखक ने इस उपन्यास में पहाड़िया आदिवासी समुदाय के सामाजिक-सांस्कृतिक पक्षों को उद्घाटित किया है। तिलका मांझी को केवल एक मांझी के रूप में पहाड़िया आदिवासी समुदाय की अगुआई करते नहीं देखा गया है, बल्कि एक सफल नेतृत्वकर्ता के रूप में अंग्रेजों से लोहा लेते हुए अपनी धरती को बचाने के लिए लड़ाका के रूप में देखा गया है। लेखक ने पहाड़िया समुदाय की स्वशासन व्यवस्था का सफल अंकन किया है। मांझी परिवार का बड़ा बेटा अपने पिता के बाद इस पद का भार ग्रहण करता है और अपनी पात्रता प्रमाणित करने के लिए उसे चुनौती के रूप में तीन भेली उठाना पड़ता है। जो इन तीन चुनौतियों को सफलतापूर्वक पार कर लेता है वही मांझी का पद ग्रहण करने योग्य माना जाता है। ये चुनौतियाँ पात्र की सूझ-बुझ और समझ को भी दर्शाता है। यह परंपरा सदियों से चलती आ रही है। वस्तुतः लेखक ने आदिवासी परंपरा और संस्कृति को उकेरते हुए तिलका मांझी के जीवन और संघर्ष को लेखकीय आयाम प्रदान करने का प्रयास किया है जिसके प्रति इतिहास मौन है।

### **गायब होता देश**

आज के भूमंडलीकरण के इस युग में रणेन्द्र का उपन्यास 'गायब होता देश' (2014) अत्यंत महत्वपूर्ण बन पड़ा है। इस उपन्यास में मुंडा समाज के जीवन-दर्शन, संस्कृति, संवेदनाओं को चित्रित किया गया है। वैश्वीकरण के इस दौर में पूंजी अथवा लाभ कमाने की एक दौड़-सी लगी हुई है जिसके अंतर्गत मनुष्य अर्थ को सर्वोपरि मानते हुए मनुष्यता को पीछे छोड़ देना चाहता है। इस उपन्यास की भूमिका में लेखक संजीव ने कहा है - "उपन्यास एंथ्रोपोलॉजी के विशाल जलसागर का कोई रंगीन आख्यान नहीं है, बल्कि मुंडा आदिवासी समाज के संकट, शोषण, लूट, पीड़ा और प्रवंचना का इतिवृत्त है - किस तरह सोना लेकरन दिसुम विकास के नाम पर रियल एस्टेट द्वारा ग्लोबल भूमंडलीकृत पतन का शिकार है।"<sup>50</sup> मनुष्य की अतिरिक्त चाह की तीव्र भूख ने आदिवासियों का सबसे अधिक नाश किया है। मुंडा समाज के पुरखों द्वारा जंगलों को साफ कर बसाए गए गाँव, उनकी परंपरा-संस्कृति, सरना स्थल सब बांध परियोजना



के तहत विलीन कर दिये गए। मृत पूर्वजों के कब्र के सिरहाने रखे गए पत्थर मात्र पत्थर नहीं होते हैं, बल्कि कई वर्षों का इतिहास होता है और उनकी जमीन का वास्तविक प्रमाण होता है। इस जमीन की सुरक्षा के लिए 'आदिवासी काश्तकारी कानून' बना जिसके आधार पर आदिवासी जमीन गैर आदिवासियों को नहीं बेचा जा सकता है। परंतु प्रत्येक कानून की तरह इस कानून को दरकिनार करते हुए जमीन का अवैध हस्तांतरण किया गया। स्कूल, कॉलेज, अस्पताल, कॉलोनी आदि विकास के नाम पर जमीन का अधिग्रहण हुआ। इस प्रकार शहरी बाबुओं ने लूट का खेल खेलना आरंभ किया जिसके तहत पलक झपकते ही जमीनें गायब हो जाती हैं। विश्वविद्यालय, कोल इंडिया, स्टील ऑथोरिटी के ऑफिस, हैवी इक्यूपमेंट की फैक्टरी खुलने के बहाने आदिवासियों की अथाह जमीन अधिग्रहित कर ली गई। एक तरफ ग्रीन एनर्जी कंपनी ने बांध परियोजना को तीव्र गति प्रदान की, वहीं दूसरी तरफ ग्रामीणों का आंदोलन भी तीव्र हो गया था। परमेश्वर, सोमेश्वर पाहन, अनुजा पाहन, नीरज सोनामनी बोदरा आदि ने पूरी ईमानदारी से आदिवासी मामले में अपना सहयोग दिया। डायरी शैली में लिखा गया यह उपन्यास मुंडा समाज एवं संस्कृति की वास्तविकता से साक्षात्कार कराने में सफल सिद्ध हुआ है।

## रेड जोन

'रेड जोन' (2015) लेखक विनोद कुमार का दूसरा महत्वपूर्ण उपन्यास है। 'समर शेष है' शिबू सोरेन के जीवन का पूर्वार्द्ध है तो 'रेड जोन' उत्तरार्द्ध। संसदीय राजनीति में प्रवेश करने के बाद शिबू सोरेन के जीवन और कार्य प्रणाली में जो परिवर्तन आया, उसे हम 'रेड जोन' उपन्यास में देख सकते हैं। आदिवासियों के बीच गुरुजी का प्रभाव धीरे-धीरे कम होने लगा था और लोगों का विश्वास उन पर से उठने लगा था। जिन असामाजिक तत्वों के खिलाफ गुरुजी ने जनसंघर्ष चलाया था, वे ही उनकी पार्टी में शामिल होते दिखाई दे रहे हैं। एक ओर जहाँ गुरुजी का प्रभाव शिथिल होता नजर आ रहा था वहीं दूसरी ओर कालीचरण और दुर्गा का संघर्ष इस उपन्यास में दिखाई देता है। वे पुलिस प्रशासन की भ्रष्ट नीति से त्रस्त होकर

माओवाद से जा मिलते हैं, पर वहाँ भी उनका मोह भंग हुआ और वे वापस अपनी दुनिया में लौट आए। मीडिया की भ्रष्ट राजनीति पर चर्चा की गई है और पत्रकारों की स्थिति पर प्रकाश डाला गया है। इस उपन्यास में तत्कालीन स्थिति से साक्षात्कार कराने के लिए लेखक ने लगभग वास्तविक पात्र को चुना है और कुछ काल्पनिक पात्र भी हैं। कुल मिलाकर मौजूदा राजनीति के खोखलेपन का पर्दाफाश हुआ है।

### **महाअरण्य में गिद्ध**

प्रस्तुत उपन्यास का शीर्षक उपन्यास के केंद्रीय भाव को अभिव्यक्त करता है। महाअरण्य में गिद्ध अर्थात् जंगल में ऐसा गिद्ध जो सब कुछ खा जाने को तत्पर है। गिद्ध उन पूंजीपति वर्ग का प्रतीक है जो मुनाफा कमाने की होड़ में जंगलों का अबाध दोहन कर रहे हैं। शोषण के कुचक्र और भ्रष्ट मानसिकता से आदिवासी मुख्य रूप से घिरा हुआ है। उपन्यास का कथा क्षेत्र झारखंड के पलामू जिले के महुआटांड प्रखंड को बनाया गया है जहाँ बाहरी लोगों का पूर्ण वर्चस्व था। उपन्यास की पृष्ठभूमि अलग झारखंड राज्य की मांग को लेकर चलाया गया आंदोलन है जिसमें आदिवासियों के संघर्ष का मुखर रूप दिखाई देता है। प्रभुदयाल शाहदेव के अत्याचार से पूरा महुआटांड त्रस्त था जिसके विरुद्ध ददुआ मानकी ने आवाज उठाया। यद्यपि ये लोग आदिवासी क्षेत्रों में प्रवेश करते हैं और विभिन्न प्रकार के सुधार कार्य करते हैं, किन्तु वे आदिवासियों के लिए दीक ही प्रमाणित होते हैं। ये दीक शिकारी बनकर वन संसाधनों और स्त्रियों का शिकार करते हैं। उनके इस शोषण में कई आदिवासी साथ देते हुए दिखाई देते हैं जिनमें स्टेला कुजूर एक उदाहरण के रूप में प्रस्तुत है जो कुछ पैसों के लोभ में अपने समुदाय से छल कर बैठने को तैयार हो जाते हैं। कुल मिलाकर एक ऐसे जननेतृत्व की आवश्यकता है जो समस्त प्रकार के शोषण के विरुद्ध आवाज उठाने में सक्षम हो और यह क्षमता ददुआ मानकी में है जो दीकओं की हरकतों को देख-समझ रहा था।

## माटी माटी अरकाटी

लेखक अश्विनी कुमार पंकज कृत 'माटी माटी अरकाटी' उपन्यास 2016 में प्रकाशित हुआ था। इस उपन्यास में झारखंड के आदिवासियों को प्रवासी मजदूर के रूप में मॉरिशस ले जाने की घटना वर्णित है। उपन्यास की पृष्ठभूमि में 19वीं शती का शुरुआती दौर रहा है जब ब्रिटिश साम्राज्य का एकछत्र राज स्थापित हो चुका था। इस समय 1830 के आसपास कई आदिवासियों को जिसमें महिलाएँ भी शामिल थी, जबरन विस्थापित कर मॉरिशस ले जाया गया। इनमें आदिवासियों के साथ-साथ सदान भी सम्मिलित थे जिन्हें कुछ वर्षों के एग््रीमेंट के आधार पर प्रवासी दुनिया में भेजा जाता है। ये ही गिरमिटिया कहलाए। इस उपन्यास ने आदिवासियों को पहला गिरमिटिया होने का आधिकारिक रूप प्रदान किया है। लेखक अश्विनी कुमार पंकज ने उपन्यास की कथा को तीन भागों में विभक्त किया है - जल, जंगल और जमीन। ये आदिवासी होने का एहसास कराते हैं और इसके लिए ही आदिवासी सदियों से संघर्ष करते आए हैं तथा उनका यह संघर्ष अब भी जारी है। उपन्यास के केंद्र में कौता और कुंती है। आदिवासी पुरखा लड़ाके कौता और कुंती के जीवन संघर्ष को चित्रित किया गया है। उपन्यास के प्रारम्भ में कौता और कुंती का विवाह जबरन अंग्रेज अधिकारियों द्वारा करवाया जाता है। कुंती गैर आदिवासी समुदाय से संबंध रखती है, किन्तु आपसी सहजता के कारण प्रेम प्रस्फुटित होता है और यह प्रेम तथा साथ जीवनपर्यंत रहता है। कुल मिलाकर इस उपन्यास में लेखक ने आदिवासी जीवन, संस्कृति, विचार, संघर्ष और इतिहास को शब्दबद्ध करने का सफल प्रयास किया है जो आदिवासी उपन्यासों की परंपरा को आगे बढ़ाने में मददगार साबित होता है।

## जंगली फूल

'जंगली फूल' (2018) जोराम यालाम नाबाम द्वारा लिखित उपन्यास है जो अरुणाचल प्रदेश के न्यीशी आदिवासी समुदाय की जीवन गाथा, उनके संघर्षों और उनके जल, जंगल, जमीन, संस्कृति को बचाने के प्रयत्न को दर्शाया गया है। लेखिका ने न्यीशी समुदाय के जीवन दर्शन को बड़ी बारीकी से उभारा है। जीवन दर्शन के निर्माण में प्रकृति का सहयोग महत्वपूर्ण

रहा है। लेखिका ने पुरखा कथा को आधार बनाकर एक नए रूप में प्रस्तुत किया है। जंगली का अर्थ है प्रकृति से गहरा नाता-रिश्ता जहाँ प्रत्येक प्राणी हर तरह की पाबंदियों से निर्विघ्न रूप से आजाद है। यह जंगल समुद्र की तरह इतना विशाल है कि यदि कोई रास्ता भूल जाए तो यह जंगल उसे सही राह तक पहुँचा ही देता है। जिंदगी फिर से एक नए सिरे से शुरू हो जाती है जहाँ लक्ष्य को सुनिश्चित किया जा सकता है। तानी उनके पूर्वज हैं और सभी उनकी संतान हैं। तानी में बुराइयाँ होने के बावजूद भी अपने समुदाय का अगुआ बनने के समस्त गुण विद्यमान थे। बचपन से लेकर समुदाय के अगुआ बनने तक की यात्रा को दिखाने में लेखिका सफल रही हैं। उन्होंने संस्कृति को अनुभव किया और उसे शब्दबद्ध किया। यह उनकी लेखनी का ही कमाल है कि अबोतानी केवल पुरखा कथा तक ही सीमित नहीं, बल्कि उपन्यास के मुख्य पात्र के रूप में नवीन सृजन किया।

उपरोक्त उपन्यासों के अध्ययन के पश्चात् यह पाया गया कि कुछ उपन्यासों को केवल आदिवासी समुदाय के नाम आने अथवा जिक्र मात्र से आदिवासी उपन्यासों में शामिल किया गया है। जैसे 'बसंत मालती' उपन्यास को पहला आदिवासी उपन्यास माना जाता है क्योंकि इसमें मल्लाह आदिवासियों का वर्णन किया गया है जबकि पूरे उपन्यास में नौका पार करते समय मल्लाहों द्वारा केवल एक गीत प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त आदिवासी समाज का कहीं भी वर्णन नहीं मिलता है। इस प्रकार की धारणा नितांत भ्रामक है जिसे आदिवासी चिंतक स्वीकार नहीं करते हैं। दूसरा तर्क यह दिया जाता है कि आदिवासियों द्वारा लिखा गया साहित्य ही आदिवासी साहित्य है। अर्थात् अनुभूति के आधार पर आदिवासी साहित्य का निर्धारण किया गया जिसे आदिवासी रचनाकारों और चिंतकों ने खारिज कर दिया। उन्होंने तय किया कि आदिवासी साहित्य वही साहित्य है जिसमें आदिवासी दर्शन का समावेश हो। इस आधार पर आदिवासी जीवन केन्द्रित हिन्दी उपन्यास उन्हीं को कहा जाएगा जिसके केंद्र में आदिवासी जीवन हो तथा जो आदिवासी जीवन दर्शन के अनुरूप अभिव्यक्त हुआ हो। आदिवासी जीवन दर्शन का आधार सामूहिकता, समानता, सहअस्तित्व, सहभागिता और सहजीविता में

निहित है। जिन उपन्यासों में आदिवासी समाज, संस्कृति, संघर्ष, इतिहास की अभिव्यक्ति हुई है उन्हें आदिवासी जीवन केन्द्रित हिन्दी उपन्यासों की परंपरा में शामिल किया जाना चाहिए।

## संदर्भ:

- <sup>1</sup> मीणा, गंगा सहाय(संपा.), आदिवासी साहित्य विमर्श, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2014, पृष्ठ-20
- <sup>2</sup> दीक्षित, कृष्णकान्त, सूर्यनारायण उपाध्याय (संकलनकर्ता), अमर मानक हिन्दी शब्दकोश, कमाल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण: नवीन, पृष्ठ-130
- <sup>3</sup> बाहरी, डॉ. हरदेव, राजपाल हिन्दी शब्दकोश, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, संस्करण: नवां संस्करण - 1995, पृष्ठ-53
- <sup>4</sup> चातक, डॉ. गोविंद(संपा.), तक्षशिला आधुनिक हिन्दी शब्दकोश, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण: 2006, पृष्ठ-53
- <sup>5</sup> वही, पृष्ठ-53
- <sup>6</sup> कुमार, डॉ. सुरेश, डॉ. रामनाथ सहाय(संपा.), ऑक्सफोर्ड अंग्रेजी-अंग्रेजी-हिन्दी शब्दकोश, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, संस्करण: जुलाई 2013, पृष्ठ-1271
- <sup>7</sup> बुल्के, फादर कामिल, अंग्रेजी हिन्दी कोश, एस. चन्द एण्ड कम्पनी लि., नई दिल्ली, संस्करण: 1990, पृष्ठ-762
- <sup>8</sup> शाक्य, हरीशचन्द्र, आदिवासी और उनका इतिहास, अनुराग प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2011, पृष्ठ-16-17
- <sup>9</sup> मीणा, गंगा सहाय(संपा.), आदिवासी साहित्य विमर्श, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.), नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2014, पृष्ठ: 22
- <sup>10</sup> दूबे, श्यामचरण, समय और संस्कृति, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, द्वितीय संस्करण: 2000, पृष्ठ: 65
- <sup>11</sup> मुंडा, रामदयाल, आदिवासी साहित्य और झारखंडी अस्मिता के सवाल, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2002, पृष्ठ: 42
- <sup>12</sup> गुप्ता, रमणिका (संपा.), आदिवासी कौन, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरी आवृत्ति: 2013, पृष्ठ: 159
- <sup>13</sup> Frowde, Henry, The Imperial Gazetteer of India: vol.I, The University of Oxford, Ed.: 1907, Pg: 308

---

<sup>14</sup> Majumdar, D.N., Races & Cultures of India, Universal Publishers Ltd, Lucknow, Revised Edition: 1944, Pg: 93

<sup>15</sup> मीणा, गंगा सहाय (संपा.), आदिवासी साहित्य विमर्श, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.), नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2014, पृष्ठ: 22

<sup>16</sup> अटल, योगेश, श्यामाचरण दूबे (संपा.), आदिवासी भारत, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण: 1965, पृष्ठ: 11

<sup>17</sup> कुरे, डॉ. रमेश सम्भाजी, डॉ. मालती धोंडोपंत शिंदे (संपा.), आदिवासी साहित्य विविध आयाम, विकास प्रकाशन, कानपुर, प्रथम संस्करण: 2013, पृष्ठ: 25

<sup>18</sup> डॉ. अनुशब्द (संपा.), पूर्वोत्तर भारत का जनजातीय साहित्य, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2017, पृष्ठ: 15

<sup>19</sup> मीणा, गंगा सहाय (संपा.), आदिवासी साहित्य विमर्श, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.), नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2014, पृष्ठ: 26

<sup>20</sup> गुप्ता, रमणिका (संपा.), आदिवासी कौन, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरी आवृत्ति: 2013, पृष्ठ: 26-27

<sup>21</sup> पंकज, अश्विनी कुमार (संपा.), आदिवासियत, प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, रांची, प्रथम संस्करण: 2018, पृष्ठ: 86

<sup>22</sup> डॉ. अनुशब्द, लोक और शास्त्र जनजातीय साहित्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2017, पृष्ठ: 10

<sup>23</sup> मीणा, डॉ. जनक सिंह, डॉ. कुलदीप सिंह मीणा (संपा.), भारत के आदिवासी: चुनौतियाँ एवं संभावनाएँ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2017, पृष्ठ: 104

<sup>24</sup> मीणा, गंगा सहाय (संपा.), आदिवासी साहित्य विमर्श, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.), नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2014, पृष्ठ: 27-28

<sup>25</sup> पंकज, अश्विनी कुमार (संपा.), आदिवासियत, प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, रांची, प्रथम संस्करण: 2018, पृष्ठ: 67

<sup>26</sup> गुप्ता, रमणिका, निज घरे परदेसी, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2004, पृष्ठ: 14-15

- 
- <sup>27</sup> टेटे, वंदना, आदिवासी साहित्य परंपरा और प्रयोजन, प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, राँची, प्रथम संस्करण: 2013, पृष्ठ: 82
- <sup>28</sup> वही, पृष्ठ: 13
- <sup>29</sup> वही, पृष्ठ: 15
- <sup>30</sup> गुप्ता, रमणिका (संपा.), युद्धरत आम आदमी, वर्ष-2, अंक-13, नवंबर 2014, पृष्ठ: 52
- <sup>31</sup> वही, पृष्ठ: 52
- <sup>32</sup> मीणा, हरिराम, आदिवासी दुनिया, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, पहला संस्करण: 2013, पृष्ठ: 215
- <sup>33</sup> टेटे, वंदना, आदिवासी साहित्य परंपरा और प्रयोजन, प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, राँची, प्रथम संस्करण: 2013, पृष्ठ: 87-88
- <sup>34</sup> वही, पृष्ठ: 38
- <sup>35</sup> मीणा, गंगा सहाय (संपा.), आदिवासी साहित्य विमर्श, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2014, पृष्ठ: 09
- <sup>36</sup> गुप्ता, रमणिका, आदिवासी साहित्य यात्रा, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण: 2008, पृष्ठ: 5
- <sup>37</sup> मीणा, गंगा सहाय (संपा.), आदिवासी साहित्य विमर्श, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2014, पृष्ठ: 08
- <sup>38</sup> वही, पृष्ठ: 09
- <sup>39</sup> टेटे, वंदना, आदिवासी साहित्य परंपरा और प्रयोजन, प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, राँची, प्रथम संस्करण: 2013, पृष्ठ: 57
- <sup>40</sup> गुप्ता, रमणिका (संपा.), युद्धरत आम आदमी, वर्ष-2, अंक-13, नवंबर 2014, पृष्ठ: 63
- <sup>41</sup> मीणा, गंगा सहाय (संपा.), आदिवासी साहित्य विमर्श, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2014, पृष्ठ: 11
- <sup>42</sup> मीणा, गंगा सहाय (संपा.), आदिवासी साहित्य, जनवरी-मार्च 2015, वर्ष-1, अंक-1, पृष्ठ: 92
- <sup>43</sup> कलासवा, डॉ. बी. के., हिन्दी के आदिवासी जीवन केन्द्रित उपन्यासों का समीक्षात्मक अध्ययन, ज्ञान गंगा, दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2009, पृष्ठ: 64



- 
- <sup>44</sup> चौधरी, डॉ. प्रमोद, आदिवासी केन्द्रित हिन्दी उपन्यास, विद्या प्रकाशन, कानपुर, प्रथम संस्करण: 2017, पृष्ठ: 16
- <sup>45</sup> पांडेय, पं. रामदीन, चलती पिटारी, गंगा पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ, प्रथमावृत्ति: 1944, पृष्ठ: 135
- <sup>46</sup> मिश्र, श्रीप्रकाश, जहाँ बाँस फूलते हैं, यश पब्लिकेशन्स, दिल्ली, संशोधित संस्करण: 2011, पृष्ठ: 266
- <sup>47</sup> तेजिंदर, काला पादरी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, संस्करण: 2002, पृष्ठ: 47
- <sup>48</sup> मुंडा, मंगल सिंह, छैला सन्दु, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पहला संस्करण: 2004, पृष्ठ: xi
- <sup>49</sup> सिंह, राकेश कुमार, हुल पहाड़िया, सामयिक बुक्स, नई दिल्ली, संस्करण: प्रथम 2012, पृष्ठ: 7
- <sup>50</sup> रणेन्द्र, गायब होता देश, पेंगुइन बुक्स, हरियाणा, प्रथम संस्करण: 2014, पृष्ठ: प्राक्कथन